

भारतीय साहित्य के निर्माता

इंद्रनाथ मदान

राकेश कुमार

इंद्रनाथ मदान

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन—कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य: राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली।

भारतीय साहित्य के निर्माता

इंद्रनाथ मदान

राकेश कुमार



साहित्य अकादेमी

Inder Nath Madan : A monograph in Hindi on the modern Hindi writer by Rakesh Kumar. Sahitya Akademi, New Delhi (2014), ₹ 50.

प्रथम संस्करण : 2014

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-110 001
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001
वेबसाइट: www.sahitya-akademi.gov.in
ई-मेल: sahityaakademisales@vsnl.net

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई-400 014
4, डी.एल. ख़ान मार्ग, कोलकाता-700025
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगलूरु-560 001

चेन्नई कार्यालय
मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई-600 018

ISBN 978-81-260-4313-2

मूल्य : पचास रुपये

मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

अनुक्रम



इंद्रनाथ मदान : व्यक्तिगत पक्ष

जीवन-संघर्ष

इंद्रनाथ मदान का जन्म 1 मार्च 1914 को गिरोट, ज़िला सरगोधा, पश्चिमी पाकिस्तान में एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। इनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में बहुत कुछ उनके ललित निबंधों *भानुमती का पिटारा, कुछ उथले कुछ गहरे, सुगम तथा शास्त्रीय संगीत* पुस्तकों में मिलता है। ललित निबंधों में उन्होंने अपने व्यक्तिगत (निजी) जीवन के बारे में बहुत ही बेबाकी से लिखा है। 'व्यक्तिगत' शीर्षक निबंध में वे स्पष्ट लिखते हैं, "मेरा जीवन सपाट मैदान की तरह है। इसमें घटनाओं का अभाव है। मेरा पैदा होना न तो मेरे वश में था और न ही मेरा मरना मेरे वश में होगा। अगर अपने जीवन में अभावों की बात करता हूँ तो दया का पात्र बनता हूँ जिससे मेरे अहं को चोट पहुँचती है और अगर इसमें झेलने या जूझने की कथा कहता हूँ तो वह शेख़ी बघारना होगा। वह भी मुझे पसंद नहीं। मेरे पैदा होने का युग संतति-निरोधक नहीं था। इसीलिए पिता जी ने दो शादियों से घर को भरा-पूरा बना दिया था, कुल दस बच्चे जो घर की रौनक़ के लिए काफ़ी माने गए। आमदनी सीमित थी, नौकरी नहर के ओवरसियर की थी, लेकिन बचपन में मैं अपने साथियों से इस नौकरी को बढ़ा-चढ़ाकर कहता था जिससे अपने अहं को संतोष मिलता था। पिता ने विरासत में कुछ न पाया था—न जायदाद और न ही मकान। दादी माँ ने सूत कातकर उन्हें पढ़ाया था जिसका ऋण उन्होंने सबको पढ़ा कर चुकाया।"[1] अपने व्यक्तिगत जीवन के सच को लिखने का नैतिक साहस कम ही लोगों में होता है, क्योंकि आमतौर पर अपने अभावों, कष्टों, ग़रीबी की प्रदर्शनी लगाकर लोग महानता या दया के पात्र बनना चाहते हैं कि उन्होंने जीवन में कितने कष्ट सहे। बचपन में माँ के सुख से वंचित होना, पिता द्वारा दूसरी शादी से दस बच्चों का भरा-पूरा

परिवार, सौतेली माँ के आने पर उनकी दुखद स्मृतियाँ, एकाकीपन, बचपन में ही ज़िम्मेदारियों के अहसास ने उन्हें ज़िंदगी के यथार्थ को समझने की दृष्टि भी प्रदान की। इंद्रनाथ मदान एक प्रतिभा-संपन्न मेधावी, छात्र थे। पाँचवीं जमात से एम.ए. तक वजीफ़े से पढ़े। गर्दिश के दिनों में संघर्ष करना सीख गए। साधनों के अभाव में ही व्यक्ति की चेतना का विकास होता है। गर्दिशों के दौर में ही व्यक्ति का व्यक्तित्व चमकता और निखरता है। साधन तो हमारी साधना को नष्ट ही करते हैं। इस तथ्य, सत्य का बोध उनके व्यक्तिगत निबंधों, संस्मरणों में मिलता है। अपने जीवन के बारे में 'व्यक्तिगत' निबंध में उन्होंने बहुत ही बेबाकी पूर्वक लिखा है—"बी.ए. पास करने के बाद पिता से यह इशारा मिल गया कि अब अपने पाँवों पर खड़ा होना है। साधनों की कमी है। मेरे नसीब खरे थे। इस बीच एक तार आ गया कि मुझे वज़ीफा मिल गया है। मेरे पिता के चेहरे पर रौनक़ थी। वह गाँव से मुझे घोड़ी पर चढ़ाकर रेलवे स्टेशन छोड़ने आए और मैं फिर लाहौर पहुँच गया। एम.ए. किया, अस्थाई नौकरी मिल गई जो बाद में छूट गई। एक और आदमी जो ख़ुशामद करने की कला मुझसे बेहतर जानता था, स्थाई नौकरी का हक़दार बन गया और मैं सड़कों पर चक्कर काटने लगा।"[2]

इंद्रनाथ मदान ने अपनी ज़िंदगी की अनेक घटनाओं का वर्णन संस्मरणात्मक ललित निबंधों में किया है। स्थाई नौकरी न हो पाने के कारण युवाकाल संघर्षों, कष्टों की भेंट चढ़ गया, गर्दिश के दिनों में ट्यूशन पढ़ाकर, कापियाँ सुधारकर गुज़ारा किया और जब नौकरी मिली तो 'जवानी सरक' चुकी थी। इसके बाद लड़कियों के कॉलिज में पढ़ाया। यहाँ किसी से शादी करने का सवाल ही नहीं था। इससे नौकरी छिन जाने का ख़तरा था—"अब जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है मार्क्स फ्रायड से अधिक बलवान है। जब जवानी थी तो पैसे नहीं थे और जब पैसे मिलने लगे तो जवानी सरक चुकी थी। इस तरह शुरू में नौकरियों के चक्कर में शादी के लिए निकम्मा बना दिया वरना हम भी आदमी थे काम के।"[3] यह इंद्रनाथ मदान के व्यक्तित्व की ख़ूबसूरती है कि कैसे वह अपनी ज़िंदगी की आत्मकथा को पाठकों के सामने बेबाक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। अपनी सारी निम्न मध्यवर्गीय कमियों, अंतर्विरोधों, सपनों, इच्छाओं, सफलताओं-असफलताओं को पाठकों के समक्ष खोलते हुए। निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक स्थितियाँ, चुनौतियाँ कैसे उसके सपनों का अंत करती हैं जहाँ फ्रायड से ज़्यादा मार्क्स अधिक प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। ज़िंदगी की एक-एक घटना का वे वृत्तांत बताते चलते हैं—"आख़िर दयाल सिंह कॉलिज, लाहौर में स्थाई नौकरी मिल गई और मन ललचाने लगा, लेकिन सितारों का खेल इसके विरोध में था। देश को स्वतंत्रता मिली और इसका विभाजन हो गया। कॉलिज पाकिस्तान में और हम हिंदुस्तान की राजधानी की सड़कों पर। जब

रात को दिल्ली स्टेशन पहुँचा तो अपनी अटैची का सिरहाना बनाकर, जूते उतारकर प्लेटफ़ार्म पर सो गया। सुबह उठा तो जूते ग़ायब। नंगे पाँव अपने छोटे भाई के यहाँ पहुँचा। मेरी जेब ख़ाली थी और उसके पाँव बड़े थे। उसकी चप्पल पहनकर एक समाचार-पत्र के दफ़्तर में पहुँच गया।"[4] देश का विभाजन, स्थाई नौकरी का छूटना, दिल्ली की सड़कों पर चप्पल पहनकर समाचार-पत्र के दफ़्तरों की ख़ाक छानना, अपनी ज़मीन से उखड़कर विस्थापन का दर्द भोगना ऐसी घटनाएँ हैं जो मदान की स्मृतियों में लंबे समय तक जीवित रहीं, जिन्हें लेखक ने *कुछ उथले कुछ गहरे* निबंध-संग्रह में बानगी दी है।

देश-विभाजन की त्रासदी ने कितने ही लोगों को अपनी ज़मीन से बेघर किया, विस्थापन का दंश, बेरोज़गारी, शरणार्थियों जैसा तिक्त अनुभव, उदासी, निराशा इन सबकी मिली-जुली प्रतिक्रियाएँ उनके निबंधों में मिलती हैं। एक संवेदनशील, विस्थापित अपनी ज़मीन से उखड़े व्यक्ति का दर्द! देश-विभाजन की घटना ने लाखों लोगों को विस्थापितों, शरणार्थियों की तरह जीने के लिए बाध्य किया। अपनी ज़मीन, जड़ों, भूगोल से कटना कितना कठिन और पीड़ादायक होता है कि रह-रहकर लाहौर उनकी स्मृतियों में आता है और उन्हें बेचैन करता है। लाहौर ज़िंदगी-भर उनकी स्मृतियों में रचता-बसता, कसमसाता रहा—"लाहौर अब भी याद आता है, ख़त पर अपना पता लिखते-लिखाते अनायास उस शहर का नाम लिखा जाता है। अपना शहर वह होता है जहाँ बचपन बीता हो, जहाँ एक-एक खड्ड का पूरा पता हो ताकि अँधेरे में साइकल चला सके।"[5] यह है कि एक मनुष्य का अपनी जातीय परंपरा, अतीत, ज़मीन, भूगोल से गहरा रिश्ता जो उसके वर्तमान और भविष्य को भी उद्वेलित संवेदित करता है। मदान जी के निबंधों में उनकी अतीत कालीन स्मृतियाँ किस प्रकार छनकर पारदर्शी धूप की तरह आती हैं कि उनके वर्तमान को आलोकित कर देती हैं।

चंडीगढ़ जैसे आधुनिक वातावरण में रहकर भी उनका अतीत, भूगोल, लाहौर वहाँ की संस्कृति उनका पीछा नहीं छोड़ती। चंडीगढ़ में रह कर वे एक अभिजात मध्य वर्ग का हिस्सा ज़रूर बने, लेकिन उनका खान-पान, रहन-सहन, जीवन-शैली, भाषा में वह गँवई संस्कृति, लाहौरीपन, बातचीत में स्पष्टवादिता, व्यंग्यात्मकता उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में साफ़ दिखाई देती है। ओम् अवस्थी ने मदान के व्यक्तित्व पर बहुत सही टिप्पणी की है—"वे जन्म और संस्कार से पंजाबी थे, कर्म से भारतीय और रहन-सहन में उदार विलायती। धर्म, प्रांत और भाषा की वे संकीर्णताएँ जो आदमी को आदमी से दूर करती हैं, उनके पास तक न फटकती थीं। पंजाब के बहुत से दूसरे साहित्यकार जहाँ अपनी पंजाबियत को छिपाकर हिंदी में प्रसिद्ध होना चाहते थे वहाँ मदान को अपने पंजाबी होने पर गर्व था—'मैं पंजाबी हूँ, लेकिन

लिखता हिंदी में हूँ। मैं अपनी माँ के दूध का किस तरह इनकार कर सकता हूँ।' विभाजन-पूर्व की पंजाबी रिवायत के अनुसार उर्दू तथा अंग्रेज़ी के रास्ते से वे हिंदी में आए थे, साहित्यिक बातचीत में हिंदी, अंग्रेज़ी का और सामान्य बातचीत में अधिकांशतः पंजाबी का प्रयोग करते थे।"[6] पंजाबी अक्खड़पन, फक्कड़पन उनकी प्रत्येक गतिविधि में देखा जा सकता है। यहाँ तक कि उनका स्नेह जताने का अंदाज़ भी ठेठ पंजाबी था। उनके इसी गुण को देखकर आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कहा था, "मैं उनकी साफ़गोई की क़दर करता हूँ।...किसी की मुरौव्वत नहीं, किसी से द्वेष नहीं। जिस पर ढरक गए, उसके लिए औढरदानी हैं। दोस्त हो तो मदान-जैसा और शायद दुश्मन भी हो तो मदान-जैसा।"[7] आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विख्यात समालोचक का मदान के बारे में यह कथन अत्युक्ति नहीं, अपितु सत्य कथन है। मदान जी के अथक प्रयत्नों, संघर्षों से पंजाब की समूचे भारत में एक साहित्यिक पहचान बनी।

इंद्रनाथ मदान की जीवन-यात्रा, रचना-यात्रा इतनी सुगम-सपाट नहीं थी। जीवन में उन्हें कितना आत्म-संघर्ष करना पड़ा। अलग-अलग शहरों में भटकना, शहर बदल, लाहौर से दिल्ली, शिमला, जालंधर और अंततः चंडीगढ़ में स्थाई निवास। प्राध्यापन-कार्य से लेखन-कार्य का एक अंतहीन सफ़र, लेकिन लाहौर ने उनका कभी भी पीछा नहीं छोड़ा।

अतीत की स्मृतियाँ : विस्थापन

देश-विभाजन के बाद लाहौर, दिल्ली, शिमला, जालंधर और चंडीगढ़ तक की यात्रा को उन्होंने अलग-अलग संस्मरणात्मक निबंधों में व्यक्त किया है। "एक खानाबदोश की तरह अपने वतन से उजड़कर हम अपने देश में आ गए हैं या अपनी जन्मभूमि से उखड़कर अपनी मातृभूमि में पटके गए हैं।"[8] यह था एक अपनी मातृभूमि, जन्मभूमि से उखड़े हुए व्यक्ति का दर्द, उसका अनुभव। एक संवेदनशील व्यक्ति अपनी जन्मभूमि, पैतृक गाँव, बचपन की स्मृतियों, वहाँ के भूगोल, संस्कृति से कैसे अनभिज्ञ रह सकता है। मदान अंग्रेज़ी, उर्दू के रास्ते से, 'चोर रास्ते से हिंदी में आए थे' इसीलिए हिंदी क्षेत्र के लोग उन्हें हिंदी का विद्वान् ही नहीं मानते थे और जब से मदान के अनुसार 'उन्होंने पान चबाना, ज़र्दा लेना शुरू किया, यह वहम भी दूर हो गया।' हिंदी समाज पर इससे तीखा व्यंग्य और क्या हो सकता है! अपनी अतीत कालीन स्मृतियों को बटोरते हुए मदान लिखते हैं—"यह सिलसिला एक अरसे से जारी है। देश की आज़ादी के बाद लाहौर छोड़ना पड़ा था जो अपनी महबूबा से

विदा लेने की तरह था, जिसके हसीन चेहरे को अब तक भूल नहीं पाया हूँ। सपनों में यह कभी-कभी ताज़ा हो जाता है और ख़तों पर भूलकर इसका नाम लिख जाता हूँ। लाहौर से बिछुड़कर एक साल दिल्ली की सड़कों की ख़ाक छाननी पड़ी। इस अजनबी शहर से विदा होकर शिमला पहुँचा जिसकी याद इसकी बरसाती धुँध की तरह अब धुँधलाने लगी हैं। मेरा वहाँ जाना और बर्फ़ीली ठंड में जाना एक सैलानी का सैर के लिए जाना नहीं था, एक उखड़े हुए आदमी का था, जो देश-विभाजन के बाद रोज़ी कमाने के लिए वहाँ पटका गया था।"[9] शिमला की स्मृतियों को मदान जी ने 'शिमला—मेरी याद में' निबंध में सहेजा है कि कैसे शिमला की दुनिया सिर्फ़ मालरोड 'रिज' की रंगीनियत के कारण ही नहीं, अपितु पहाड़ी लोगों के संघर्ष, बुज़ुर्गों के एकाकीपन से भी जुड़ी हुई है। माल रोड पर जहाँ सैलानी, नव विवाहित जोड़े बर्फ़ीले गोलों से खेलते दिखाई देते हैं, वहीं मदान की दृष्टि उन वृद्धों, रिटायर लोगों की मानसिकता को भी सामने लाती है। यही वजह है कि शिमला का रंगीन माहौल, सौंदर्य भी उन्हें अभिभूत न कर सका, क्योंकि वह उनका सैलानी का अनुभव, सौंदर्य-बोध न होकर, रोज़ी-रोटी की ख़ातिर पटके गए व्यक्ति का अनुभव था। विस्थापित उखड़े हुए व्यक्ति का सौंदर्य (?) अनुभव है। कुछ समय शिमला में नौकरी के बाद पुनः जालंधर लौटना पड़ा, जहाँ उन्हें शिमला की रंगीन-रोमांटिक दुनिया सताने-ललचाने लगी। एक खानाबदोश की तरह जीकर ही विदा-अलविदा के सिलसिले का आदी होना पड़ा ताकि तकलीफ़ कम हो।"[10]

रोज़ी-रोटी की तलाश में आज लाखों लोग विस्थापित हो रहे हैं, लेकिन इसकी अनुभूति कितने लोगों में होती है? 1959 से 1961 तक जालंधर, पंजाब विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे और उसके बाद पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ के हिंदी विभाग में रीडर-प्रोफ़ेसर के रूप में काम किया। चंडीगढ़ के बारे में भी मदान जी ने अनुभवों को लिखा है—"यह नगरी एक कलाकार की देन है। एक शाहजहाँ का सपना था जो ताजमहल में साकार हुआ और एक कारबूज़िया का जो चंडीगढ़ में पूरा हुआ। यह जवाहरलाल की लाडली नगरी है, जिसके नख़रे एक हसीना की तरह है, लेकिन मुझे यह एक ठप्पेदार शहर लगता है, जिसमें ज़िंदगी साँचों में ढली हुई है। एक बार इस शहर के बारे में एक महानगरी से लाया गया नौकर मेरे नौकर से बतिया रहा था और पूछ रहा था—'चुन्नी, यहाँ तो एक तरह के मकान ही मकान हैं, शहर कहाँ है?' उसका मतलब रौनक़ से था। इसके बाद यह नज़र नहीं आया, इस शहर को अलविदा कहना असंभव है, ज़िंदगी से विदा लेकर ही इससे अलविदा ली जा सकती है।"[11] चंडीगढ़ चाहे कितना भी ठप्पेदार साँचों में ढला, नाम में विसंगतिपूर्ण शहर क्यों न हो इसे मदान अलविदा नहीं कह पाए। उनका इस शहर के बारे में यह कथन बेहद महत्त्वपूर्ण है—"इसका न अपना इतिहास है और न

अपना भूगोल है, जिस तरह हर पुराने शहर का होता है। इसकी न अपनी विरासत है और न ही अपनी परंपरा है। इसे आधुनिक कहा जा सकता है जो सेक्टरों में बँटा हुआ है। इन सेक्टरों में नंबर तो हैं, लेकिन नाम नहीं है कि इसलिए यह अनाम है, सिवा इसके चंडी माता के नाम से जुड़ गया है। इस तरह इनके नाम और रूप में विसंगति है, मध्यकालीन नाम और आधुनिक रूप। इस तरह यह शहर ही नहीं, यह विसंगति भी मेरे सामने है। इस पर फिर से काली छायाएँ मँडरा रही हैं। इसके बँटवारे के मंसूबे बाँधे जा रहे हैं।"[12] चंडीगढ़ शहर के नाम और रूप में चाहे कितनी भी गहरी विसंगति क्यों न हो, मदान जी इस शहर को अपना स्थाई ठिकाना ही बनाते हैं। दिल्ली को लोग चाहे कितना भी कोसें, दिल्ली छोड़ना भी कौन चाहता है! क्या यह भी हमारी विसंगति नहीं कि चंडीगढ़ शहर की चकाचौंध का प्रभामंडल इतना ही है कि उसे छोड़ने को भी जी नहीं चाहता! इसके बावजूद मदान के व्यक्तित्व में एक खरापन है जो चिकनी-चुपड़ी भाषा की अपेक्षा, खरी-खरी कहने, सुनने और सुनाने में विश्वास करता है। उन्हें 'गुड़ की मिठास से करेले की कड़वाहट' अधिक अच्छी लगती है लेकिन खुशामदी, चापलूसी एवं आत्ममुग्धता के इस दौर में खरी-खरी सुनाने वाले व्यक्ति का जो हश्र होता है, उस सच्चाई को भी वे सामने लाती हैं। इनका एक महत्त्वपूर्ण निबंध है–'खरी-खरी सुनाने पर' जिसमें वे कहते हैं–"आज खरी सुनाना कितना कठिन हो सकता है–इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है।" उनका यह भी अनुभव है, कि ज़िंदगी में "खरी-खरी बात करने से काम कम हुआ है और हानि अधिक पहुँची है। मैं किसी गुट का सदस्य नहीं हो सका हूँ।...आज नेतागिरी या दादागिरी करने के लिए अपना गुट बनाना आवश्यक हो गया है।"[13]

सहमति और असहमति के इस बीच विरोध करना, किसी विचारधारा का पिछलग्गू न बनना, असहमति दिखाने का अर्थ है अकेला पड़ जाना। इस तरह असहमतियों, खरी-खरी बातें कहने का आदी होने के कारण वे अकेले पड़ते गए जिसकी बानगी उनके निबंधों में मिलती है। बात भले ही वे अपनी करें, लेकिन उसे वे पूरी समाज-व्यवस्था, परिवेश से जोड़कर करते हैं तो वह व्यक्तिपरक कम सामाजिक, सार्वजनिक अधिक प्रतीत होती है। सही राय अखरने वाली होती है। उससे दोस्त कम, दुश्मन अधिक बनने लगते हैं। 'अहंकारी दंभी, सनकी होने के आरोप भी लगते हैं कि बड़ा अहंकारी व्यक्ति है।' वे इस तथ्य-सत्य से भी परिचित थे कि "जब परिवेश ही मिलावट से घिरा हुआ हो तो साफ़-साफ़ कहना ख़तरे से ख़ाली नहीं है और हर बार ख़तरा लेना भी शोभा नहीं देता। मैंने सुधार का कौन-सा ठेका ले लिया है। लेकिन कभी-कभी पुरानी आदत से मजबूर होकर खरी-खरी सुनाने को जी चाहता है और यह इसी का परिणाम है।"[14] इंद्रनाथ मदान का व्यक्तित्व

बहुत ही सपाट था। उनका स्पष्ट मानना है कि "अगर मैं किसी का काम नहीं कर सकता या नहीं करना चाहता तो साफ़-साफ़ क्यों न कह दिया जाए। लाग-लपेट से झूठी आशा बँध जाती है। असमंजस में पड़े रहने से या किसी को डाले रखने से मन को कष्ट पहुँचता है।"[15] उनकी जीवन-दृष्टि बहुत साफ़ थी। पसंदगी और नापसंदगी भी। बीच का रास्ता उन्होंने कभी अपनाया नहीं, किसी की झूठी प्रशंसा की नहीं, जो चीज़, व्यक्ति, रचना, रचनाकार नापसंद थे, उनके बारे में उनकी धारणा बहुत स्पष्ट रहती थी। ऐसे स्पष्टवादी लोग अव्यावहारिक समझे जाते हैं। इसका भी उन्हें कोई मलाल न था। ज़िंदगी के बारे में उनका नज़रिया बिल्कुल स्पष्ट था—"मुक्तिबोध की भाषा में यह कहने को जी चाहता है—'जीवन क्या जिया?' अगर मैं भी इसे जी पाता तो शायद फ़तवे देने लायक़ हो जाता। अब तो दूसरों को दोहराने के सिवाय और कर ही क्या सकता हूँ। मेरे दिमाग़ में न तो इतनी जान है और दिल में इतना दम है कि दूसरों के फ़तवों को अपना बनाकर पेश कर सकूँ।"[16]

आइने में देखता हूँ...निबंध में वे अपनी जीवन-दृष्टि पर भी विचार करते हैं कि उम्र के ढलने के साथ-साथ व्यक्ति को अपनी सोच भी बदलनी ज़रूरी है। आइना हमें हमारी सही तस्वीर दिखा देता है। यह एक अलग बात है कि आइने को देखकर भी यदि व्यक्ति को अपनी मोटी चर्बी, झुर्रीदार चेहरा या बुढ़ापा दिखाई न दे। मदान जी का आइना उन्हें 'चेतावनी देता रहा है कि अब जीवन-वास्तव का सामना करना शुरू कर दूँ, बालों को काला करना बंद कर दूँ, पतझड़ में बहार का सोचना छोड़ दूँ, दाढ़ी रख लूँ और एक नए जीवन की शुरुआत कर दूँ, लेकिन मैं इससे भय खाता हूँ, मुझे डर है कि लोग मुझे बाबा मान लेंगे और मेरे पास करिश्मा दिखाने को कुछ नहीं है।"[17] उनका आइना उन्हें तसल्ली भी देता रहा कि अगर चमड़ी झूल गई है, चेहरे पे झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं, हड्डियाँ उभर आई हैं तो यह बुढ़ापे का तकाज़ा है। इस सच्चाई को जानकर कि कितने लोग हैं जो इसे स्वीकार करते हैं। कवि केदार के शब्दों में कहूँ तो 'ऐसा क्या होता है कि चमड़ी के झूलने से बढ़ने लगती है अर्थों की चमक।' यह व्यक्ति के प्रौढ़ परिपक्व होने की भी प्रतीक है।

मानवीय संबंधों के इस सच को भी वे समझते थे कि इस पूँजीवादी युग में संबंध भी अर्थ-केंद्रित, पद-केंद्रित, स्थिति-केंद्रित होते हैं। जब व्यक्ति प्रभावशाली पद पर आसीन होता है तो व्यक्ति के आसपास खुशामदियों की भीड़ बनी रहती है और जैसे ही वह सत्ताहीन, शक्तिहीन होता है लोग दूरी बनाने लगते हैं। इस स्थिति पर भी उनकी यथार्थपरक टिप्पणी है—"जब से रिटायर हुआ है इस बेरी पर बेर नहीं रहे। आने जाने वालों का भी सिलसिला बंद हो गया है। पहले मुझे फ़ुरसत

नसीब नहीं होती थी, अब फ़ुरसत ही फ़ुरसत है। सुबह अपनी बगिया में बैठकर तोतों की डारें देखता हूँ, शाम को फ़ुदकती चिड़ियों को और रात को तारे गिनता हूँ। मगर इंसानों से कट गया हूँ तो क़ुदरत से जुड़ गया हूँ।"[18] एक यथार्थजीवी व्यक्ति के लिए ज़िंदगी का सच अबूझ या पहेली नहीं होता। वह ज़िंदगी के इस वास्तव से भी परिचित थे कि इस पूँजीवादी, उपभोक्तावादी समाज में मानवीय रिश्तों का भी कोई अर्थ नहीं होता।

अभिरुचियाँ

मदान एक बहुत ही अध्ययनशील बहुपठित व्यक्ति थे। उनकी दुनिया किताबों से सटी हुई थी। किताबें पढ़-पढ़कर जब उकता गए तो कबीर का स्मरण हो आया—'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय' यानी किताबों से उकताकर उन्हें लगा कि उससे पांडित्य का विकास, स्मरण-शक्ति, तर्क-शक्ति का विकास तो अवश्य होता है, लेकिन मनुष्य इतना यांत्रिक हो जाता है कि वह सृजनशील नहीं रह पाता। वह व्यक्ति को सृजनशील नहीं रहने देतीं, बौद्धिक तर्कशील, विचारशील भले ही बना दें। इस प्रक्रिया में हमारी सृजनशीलता अवश्य कुंठित, कुंद हुई है। इसलिए मदान जी को लगता है कि अब पढ़ने की कम, जुगाली, चिंतन-मनन, आत्मावलोकन, आत्मालोचना की आवश्यकता अधिक है। बुद्धिजीवी लोग पढ़ते तो बहुत हैं, लेकिन जुगाली नहीं करते, इसलिए वह अपचा, अधपचा ज्ञान लाभ कम, हानि अधिक पहुँचाने लगा है। डॉ. विनय मोहन शर्मा जी ने उनके बारे में बहुत सही कहा है, "गंभीर से गंभीर विषय को बोधगम्य बनाने की कला उनसे सीखी जा सकती है। वे विद्वान् होते हुए भी विद्वता के बोझ से लदे हुए नहीं रहते। सुगम संगीत की प्रत्येक पंक्ति उनके व्यक्तित्व का परिचय देती है।"[19]

इंद्रनाथ मदान के व्यक्तित्व के बारे में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य है—"डॉ. मदान सुलझे हुए समालोचक हैं। स्पष्टवादिता उनका गुण नहीं, स्वभाव है। उधार-बाक़ी किसी का नहीं रखते, कुछ भी नहीं। पैसे भी नहीं, प्रत्युत्तर भी नहीं। तुरंत का तुरंत चुका देते हैं। अचार-चटनी के पूरे शौक़ीन हैं, मगर मानसिक अचार से एकदम अपरिचित। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'वैर, क्रोध का अचार या मुरब्बा है।' इस अचार या मुरब्बे का शौक़ उन्हें बिल्कुल नहीं क्योंकि मानसिक मनघुन्नेपन में विश्वास ही नहीं करते। मन में कुछ बात हुई तो उसी समय उसे निकाल देते हैं। 'तुरंत दान महाकल्याण' के पुराने मंत्र में उनकी पूरी आस्था है। मैं उनकी साफ़गोई की क़दर करता हूँ। उधर वे मेरी 'लस्टम-पस्टम-नीति' की

क़दर करना तो दूर, समझ ही नहीं पाए। उनकी रचनाओं में यह विचित्र व्यक्तित्व सर्वत्र मुखर है। कहीं भी बात को घुमा-फिराकर कहने का प्रयत्न नहीं मिलता, किसी की मुरौव्वत नहीं, किसी से द्वेष नहीं। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि वे ममताहीन हैं। जिस पर ढरक गए उसके लिए औढरदानी हैं। दोस्त हो तो मदान-जैसा, और शायद दुश्मन भी तो मदान-जैसा!"[20] ये वाक्य पंडित आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी के हैं, मदान जी के बारे में कि दोस्त हो तो मदान-जैसा, और शायद दुश्मन भी तो मदान-जैसा! अचार-मुरब्बे खाने के ही नहीं, ख़ुद डालने, तैयार करने के शौक़ीन, लेकिन कभी वैर क्रोध का अचार नहीं डाला। किसी से वैर नहीं पाला। खरी-खरी सुनाने और झूठ से सख़्त नफ़रत करने वाला स्पष्टवादी व्यक्ति जो मुँह पर ही कहने में विश्वास रखता है, तुरंत का तुरंत चुका देना, हिसाब-किताब बराबर कर देना, प्रत्युत्तर में चाहे लोग नाराज़ हो जाएँ, एक ऐसा फक्कड़ मस्तमौला व्यक्ति मदान ही हो सकता है। सूर्य भानु जी ने उन्हें 'खरी बात कहने का धनी' बताया है, "वह जीवन में सदैव खरी बात कहने के आदी रहे हैं। चाहे वह बात साहित्य के प्रति कही जाए या व्यक्ति के बारे में। अपनी बात को एक बार तो वे उच्च स्वर में सभी के सम्मुख प्रस्तुत कर देंगे।"[21]

उनके स्वभाव में पंजाब का फक्कड़ाना, मस्तमौला, बेलौसपन अपनी पूरी संजीदगी से व्यक्त हुआ है। प्रो. अतर सिंह ने उनके बारे में सही कहा है—"आचार्य द्विवेदी को पंजाब में लाने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को है तो वह डॉ. मदान को है। पंजाब का सौभाग्य, आचार्य द्विवेदी वाराणसी से कार्य-भार से मुक्त हुए। मदान का सुझाव, उपकुलपति डॉ. जोशी की सहमति, और अंततः आचार्य द्विवेदी की स्वीकृति-प्रगति के केवल तीन चरण। अपनी सम्मान-समृद्धि की संभावनाओं से निश्चिंत डॉ. मदान का भगीरथ प्रयत्न!"[22] जो ज्ञान-गंगा वाराणसी में बहती थी, वह ज्ञान-गंगा अब पंजाब में बहने लगी। पंजाब साहित्य-कला और संस्कृति का केंद्र बन गया। मदान जी के समय में पंजाब साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र बन गया। मदान जी ने यह श्रेय कभी लेने की कोशिश नहीं की, उनके इस भगीरथ प्रयत्न को देखकर ही साहित्यकारों ने यह कहा था—"अब गंगा उत्तर प्रदेश से नहीं पंजाब से दूसरे प्रांतों की ओर बहेगी।" वीरेंद्र मेहंदीरत्ता जी ने मदान जी के व्यक्तित्व के बारे में सही लिखा है—"स्पष्टवादिता डॉ. मदान का सबसे बड़ा गुण है, किंतु इसी कारण उनके कुछ परिचित प्रायः नाराज़ रहते हैं। मगर मैं यह समझता हूँ कि उनकी स्पष्टवादिता से एक सत्य प्रकट होता है कि हम सबने किस हद तक 'हिपोक्रेसी' के साथ समझौता कर लिया है और कटु सत्य का सामना करने में कितने अक्षम हैं। वे अक्सर कहा भी करते हैं—सत्य प्रायः कटु होता है और कटु सत्य को कहने-सुनने और सहने की हिम्मत हममें होनी चाहिए। यदि नहीं है तो

पैदा करनी चाहिए।"[23] आज कितने ऐसे लोग हैं जो स्पष्टवादिता में विश्वास रखते हैं और जीवन में समझौतावादी, अवसरवादी नहीं हैं? यह गुण भी आज की हिपोक्रैट अवसरवादी दुनिया में दोष बनता जा रहा है, क्योंकि सच बोलने, सुनने और सहने की हिम्मत लोगों में कहाँ बची है!

इसके बावजूद उनकी जीवन-दृष्टि बिलकुल साफ़ थी। कहीं कोई मध्यवर्गीय कुंठा, अहं भाव या आत्ममुग्धता नहीं। स्वयं को एक अत्यंत साधारण, सामान्य कोटि का व्यक्ति मानना उनका गुण रहा है। उनमें आजकल के सैलीब्रिटी की तरह आत्ममुग्धता कतई नहीं थी। इससे वे कोसों दूर थे। 'सुगम तथा शास्त्रीय संगीत' निबंध-संग्रह में वे ख़ुद के बारे में लिखते हैं—"मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ। मेरी वेषभूषा, रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार सब साधारण है। मेरी प्रतिभा भी सामान्य कोटि की है। मेरे पास न तो लेखक के लंबे-लंबे घुँघराले बाल हैं, न ही उसकी कटी-छटी बकरा दाढ़ी है, न रंग-बिरंगे वस्त्र, नहीं टेढ़ी-मेढ़ी लिपि है। मेरे पास न ही लेखक का प्रगतिशील दृष्टिकोण है, न ही काल्पनिक या वास्तविक प्रेयसी, न ही भाव हैं न ही भाषा। मैं लेखकों की तरह न तो देर में सो सकता हूँ और न ही देर में उठ सकता हूँ। मैं चाय पीने का आदी हूँ। कॉफ़ी कड़वी लगती है। इस प्रकार मेरे पास लेखक बनने के गुण और लक्षण नहीं हैं। मेरे जीवन में विलक्षणताओं का अभाव है। अपनी सीमाओं से पूरी तरह अवगत हूँ, उनसे पूरी तरह से संतुष्ट हूँ। मेरी आँखों में काव्यात्मक तरलता एवं गहनता के दर्शन नहीं होते। ऐसी स्थिति में मैं लेखक बनने की कल्पना कैसे कर सकता हूँ!"[24]

मदान जी के बारे में डॉ. प्रेमशंकर जी का यह कथन बेहद सार्थक है—"आज जब विश्वविद्यालय-शिक्षा की प्रासंगिकता को लेकर संशय व्यक्त किया जाता है और हिंदी शिक्षा की दुर्गति पर तरह-तरह की टिप्पणियाँ की जाती हैं, तब डॉ. इंद्रनाथ मदान का हमारे बीच से चले जाना, अखरता है। मदान उन हिंदी अध्यापकों में से थे जिन्होंने हिंदी को उसकी किसी भी प्रकार की हीन-भावना से उबारने का सक्रिय प्रयत्न किया। अरसे तक हिंदी पर संस्कृत का दबदबा था। नया दौर आया तो अंग्रेज़ी के दबाव बढ़े। कभी संस्कृत को उद्धरणों से आतंकित किया गया, तो कभी अंग्रेज़ी किताबों से। डॉ. मदान का हिंदी-अंग्रेज़ी पर समान अधिकार था, पर उन्होंने निरंतर कोशिश की कि हिंदी का स्वतंत्र व्यक्तित्व बने।"[25] डॉ. मदान ने हिंदी आलोचना का एक स्वतंत्र चरित्र विकसित करने की कोशिश की तथा विचारधारा-विहीन आलोचना का विकल्प प्रस्तुत किया।

'कृति की राह' मूलतः आलोचनात्मक स्वतंत्रता का ही वैकल्पिक रूप है कि कृति पर विचारधारा का आग्रह, बोझ लादना उचित नहीं। क्या विचारधारा-विहीन आलोचना नहीं हो सकती? क्या यह ज़रूरी है कि साहित्य को परखने के लिए किसी

विचारधारा विशेष का होना ज़रूरी है ? क्या विचारधारा सदैव साहित्य का अहित, विकृतीकरण या सरलीकरण ही करती है ? प्रश्न उठता है कि विचारधारा का प्रयोग वहाँ किस प्रकार हो रहा है, उससे कृति की संवेदना खुल रही है अथवा दब रही है? डॉ. मदान इन प्रश्नों से बार-बार टकराते हैं कि कृति कोई हिसाब का सवाल या नुक्ता तो नहीं है? वे साहित्य-आलोचना को विचारधाराओं, सिद्धांतों, प्रतिमानों से मुक्त, स्वतंत्र कराने के पक्ष में थे। उनका मानना था कि कृति को 'कृति की राह' से गुज़रकर ही समझा जा सकता है, विचारधाराओं द्वारा कदापि नहीं। 'कृति की राह' उनका मौलिक चिंतन है, आलोचना का एक नया विकल्प है, जिससे असहमत तो हुआ जा सकता है, लेकिन डॉ. मदान द्वारा उठाए गए तीखे प्रश्नों, चिंताओं को नकारा नहीं जा सकता। आज पुनः हमें अपने प्रतिमानों, औज़ारों का परीक्षण, आत्मावलोकन, आत्मालोचना की ज़रूरत है। समय के बदलने के साथ-साथ हम अपने औज़ारों की प्रासंगिकता पर भी पुनर्विचार करें कि वे कितने प्रासंगिक हैं? डॉ. मदान अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार भी करते थे और ज़रूरत समझने पर उन्हें रद्द भी कर देते थे। क्या ऐसी आत्मालोचना आज के बड़े आलोचकों के पास है? डॉ. प्रेमशंकर ने मदान के ज़िंदादिल व्यक्तित्व के बारे में सही लिखा है—"रिटायर होने के बाद भी वही अकादमिक सक्रियता नई से नई किताबों को पढ़ना, युवकों को मात कर देने वाला उत्साह। इसी तरह वे जीवन-भर अकेलेपन से लड़ते रहे। उन्होंने अपने को किताबों में, दोस्तों में उलझा दिया था। ज़िंदादिल इंसान को कुछ इस बार उदास भी देखा। एक बार जब बिटिया ब्याह रहे थे, या जब आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी नहीं रहे थे, या जब किसी दोस्त पर मुसीबत आई और उन्हें पता चला। उनका पत्र मेरे पास है 'सुना, कुछ परेशानी में हो। जब भी चाहना, इधर चले आना।'

डॉ. मदान के पास यशस्वी हिंदी आचार्यों जैसा प्रभामंडल नहीं था, पर पंजाब में हिंदी को सही आधार दिया, स्वयं उस पर चले। वे एक गरिमामय प्रोफ़ेसर थे, और उनकी याद इस समय और भी बढ़ जाती है, जब हमारे विश्वविद्यालय हर तरह की स्तरहीनता में अपनी दिशा खो बैठे हैं।"[26] यह डॉ. प्रेमशंकर का ही मत नहीं, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, रमेश कुंतल मेघ, नरेंद्र मोहन, गंगा प्रसाद विमल, डॉ. ओम अवस्थी, वीरेंद्र मेहंदीरत्ता, मनमोहन सहगल, यश गुलाटी जैसे आलोचक लेखक डॉ. मदान को एक ऐसे निष्पक्ष, सेक्युलर आलोचक के रूप में पाते हैं जिन्होंने हिंदी साहित्य- आलोचना को वैचारिक स्वतंत्रता प्रदान करने के लिए 'कृति की राह' का विकल्प प्रस्तुत किया। अकादमिक विमर्शकारों के लिए भले ही यह एक 'मिथ' हो कि 'कृति की राह' का सिद्धांत क्या है, लेकिन जब सर्वत्र विचारधाराओं, सिद्धांतों, विभिन्न ज्ञानानुशासनों का आतंक छाया हो तो साहित्य की मुक्ति 'कृति की राह'

से गुज़रकर ही संभव है। आज भी हिंदी आलोचना में विभिन्न विमर्शों का शोर है। विमर्शों के इस दौर में साहित्य एवं आलोचना के भविष्य पर भी सवाल उठने शुरू हो चुके हैं तब मदान जी का आलोचनात्मक संघर्ष हमारे लिए 'कृति की राह' का विकल्प प्रस्तुत करता ही है। 'कृति की राह' का अर्थ है—पाठक और कृति के बीच जो अंतराल है उसे दूर करना तथा उनमें एक नया संवाद स्थापित करना कि वह कृति को अन्य की आँख से देखने की अपेक्षा अपनी दृष्टि—आँख से देखे, पढ़े कि कृति क्या है? डॉ. ओम अवस्थी ने भी उन्हें 'कृति की राह' पर अकेला आदमी कहा है जो सदैव 'कृति की राह' पर अकेला चलता गया। गुरुनानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर में रमेश कुंतल मेघ जी ने जब उनका अभिनंदन किया तो मदान जी ने इसका विरोध किया, "डॉ. मेघ को समझाओ कि वह अभिनंदन समारोह कैंसल कर दें। इतना परिश्रम और पैसा ख़र्च करने में क्या तुक है? वह भावुक तरह का इंसान है और बनता साम्यवादी है। मैं साम्यवादी भावुकता की क़द्र करता हूँ।"[27] अपने चौथे अभिनंदन पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए जब मदान ने कहा, "अगर चार अभिनंदन इस लोक में हो जाते हैं तो चित्रगुप्त मेरा पाँचवाँ अभिनंदन परलोक में करवा देगा।" और अवस्थी जी का यह कहना—"अगर चित्रगुप्त नाम की कोई हस्ती सचमुच है तो निश्चित ही उसने भी मदान साहब का स्वागत (अभिनंदन) किया होगा।"[28]

इंद्रनाथ मदान स्वयं में एक व्यक्ति नहीं अपितु संस्था थे। अकेले एक संघर्षशील योद्धा की तरह वे अपने समय की चुनौतियों, प्रतिक्रियावादी, दकियानूसी, प्रतिगामी ताक़तों से दो-चार होते रहे। ज़माने से दो-दो हाथ करने वाला व्यक्ति, वह भी नितांत अकेला। जब सर्वत्र हिंदी आलोचना अखाड़ों में परिवर्तित हो चुकी थी, आलोचना के अलग-अलग ख़ेमे, दल, बाड़े बन चुके थे तो उनमें उनकी स्थिति एक गड़रिए की थी। 'आलोचना के बाड़ों में भेड़ों को सँभालता हुआ गड़रिया!' डॉ. शिव कुमार मिश्र जैसे मार्क्सवादी चिंतक ने भी उनके बारे में बहुत सही कहा है—"एक अध्यापक के रूप में, जैसा कि मैंने उनके सहकर्मियों तथा छात्राओं से जाना और सुना है, प्राचीन और नवीन सर्जना तथा चिंतकों दोनों में उनकी गहरी पैठ है। आधुनिक तौर-तरीके की रहन-सहन के बावजूद गुरु-शिष्य के परंपरागत उदात्त संबंधों की मिसाल, एक वत्सल गुरु तथा बहुत सुलझे हुए अध्यापक हैं। मैंने स्वतः उनके कृतित्व से बहुत कुछ सीखा है।"[29]

इंद्रनाथ मदान एक अध्यापक, निबंधकार, आलोचक, संपादक तथा बेहद सुलझे हुए ज़िंदादिल इंसान के तौर पर याद किए जाते हैं जिन्होंने लगभग 1939 से लेकर 1982 तक तीन दर्ज़न पुस्तकें साहित्य-संसार को दी हैं। उनके व्यक्तित्व के दम-खम का पता इससे भी चलता है कि ''उम्र के ढलने के साथ उनका लेखन,

गुण या मात्रा में कमज़ोर नहीं पड़ा, बल्कि उनकी तक़रीबन आधी पुस्तकें उस आयु-खंड की उपज हैं, जिसमें वे साठे से पाठे और सत्तर से बहत्तर बन रहे थे।. ..अपनी सर्वोत्तम पुस्तक की प्रतीक्षा उन्हें अंत तक बनी रही। मरने से पहले बेहोशी के आलम में भी वह शीघ्र-प्रकाश्य पुस्तक के विषय में बड़बड़ाते रहते थे।"[30] कैंसर के रोग ने उन्हें ग्रस लिया। जीवन के अंतिम समय तक अध्ययन, पठन, लेखन जारी रहा। रमेश कुंतल मेघ उनकी ख़बर को गए, मगर बहुत चिंतित-निराश होकर लौटे। बचने के कोई आसार नहीं हैं। आशंका सच निकली। अगली दीवाली उनकी अनुपस्थिति में आई है।"[31] 14 अगस्त 1984 को डॉ. इंद्रनाथ मदान ने इस दुनिया को 'विदा अलविदा' कह दिया। कौन जानता था कि मृत्यु पूर्व उन्होंने 'विदा-अलविदा' निबंध-संग्रह में यह पूर्व संकेत कर दिया था, मृत्यु का पूर्वाभास या अंतरात्मा की आवाज़ 'विदा अलविदा'! अभी मुक्तिबोध की तरह उनमें ख़ुद से असंतुष्टि, गहरी अकुलाहट, बेचैनी, असंतुष्टि थी कि अब तक क्या किया? जीवन क्या जिया? मुक्तिबोध की इन पंक्तियों को वे अक्सर गुनगुनाते थे, जो उनके भीतर के आत्म-संघर्ष, बेचैनी, अकुलाहट की ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थी। जीवन-पर्यंत इतना पढ़-लिखकर भी ख़ुद से असंतुष्टि। उनके भीतर कहीं-न-कहीं गहरे में मुक्तिबोध बैठा हुआ था जो उन्हें बार-बार प्रेरित, उद्वेलित करता रहता था।

डॉ. इंद्रनाथ मदान के व्यक्तित्व में कबीर जैसी अक्खड़ता और फक्कड़ता, निराला जैसा आक्रोश एवं विक्षोभ, मुक्तिबोध जैसी बेचैनी थी। अकेलेपन में भी वे एक योद्धा की तरह लड़ते रहे, हारे, लेकिन कभी टूटे नहीं। उनकी साहित्य संबंधी सोच बिल्कुल साफ़ थी। उनका मानना था कि "मेरे पास न तो साहित्य के शाश्वत नियम हैं और न ही इसके मूल्यांकन का शास्त्रीय आधार, न ही इसकी निश्चित परिभाषा है और न ही इसके परखने की चरम कसौटी। मेरे लिए हर कृति, यदि वह अनुकृति नहीं है, अपने-अपने कला-नियमों को लिए हुए है। इसलिए हर 'कृति की राह' से गुज़रकर उसे जाना-पहचाना जा सकता है। मैं तो केवल प्रश्न-चिह्न लगा सकता हूँ, विराम-चिह्न लगाना आपका काम है; समस्या को उठा सकता हूँ, समाधान खोजना आपका काम है।"[32] यह मदान की एक ख़ास आलोचनात्मक शैली है कि वे प्रश्न-दर-प्रश्न खड़े करते हैं, उत्तर पाठकों के लिए छोड़ देते हैं। 'कामायनी : एक असफल कृति' और 'गोदान' की राह से गुज़रते हुए निरंतर प्रश्न-चिह्न लगाते चले जाना, आलोचकों की धारणाओं, मान्यताओं, स्थापनाओं को ध्वस्त करते जाना उनके आलोचनात्मक विवेक का हिस्सा है। इससे मतभेद भी बढ़े, लेकिन हिंदी आलोचना में चिंतन-मनन, वाद-विवाद-संवाद की संस्कृति विकसित हुई। उन्हें आलोचकों का आलोचक कहना अधिक उपयुक्त होगा। जब उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ तो उन्होंने अपनी धारणाओं, मान्यताओं को बदला भी है। किसी प्रकार की हठधर्मिता

उनमें नहीं थी—"जहाँ तक आधुनिकता के बोध का सवाल है, यह एक प्रक्रिया है जिसका मैं निरूपण करता आया हूँ, जिसमें मूल्य बनते-मिटते-बनते रहते हैं। इसमें किसी को यदि मूल्यहीनता या मूल्य-मूढ़ता की गंध आने लगे तो दोष उस दृष्टि का नहीं है। यदि इस प्रक्रिया में मेरे विचार बदले हैं तो दोष मेरा नहीं, प्रक्रिया का है।...एक हठी आलोचक ही यह दावा कर सकता है कि एक बार उसने जो कह दिया, वह सदा के लिए सही है।"[33] इंद्रनाथ मदान अपनी धारणाओं, मान्यताओं को समय की बदलती कसौटी पर भी परखते रहे। उनका मानना था कि यदि आधुनिकता एक प्रक्रिया है, तो इस प्रक्रिया में बहुत कुछ बनता-टूटता-बदलता भी है और यदि आलोचक या लेखक खुद को नहीं बदलता, तो वह कैसा आलोचक या लेखक! एक निबंध में उन्होंने यहाँ तक कहा कि यदि राजनेता टोपियाँ, दल बदल सकते हैं तो क्या मैं विचार नहीं बदल सकता! इंद्रनाथ मदान की यही सतत आत्मावलोकन, आत्मालोचना की दृष्टि ने उनकी सृजनशीलता और आलोचनात्मक विवेक का निरंतर विकास किया है। इंद्रनाथ मदान के बारे में नरेंद्र मोहन का यह वक्तव्य काफ़ी सार्थक प्रतीत होता है—"उनकी आलोचना की यह ख़ासियत है कि इस दौर में जो कह दिया सो कह दिया जैसी शाश्वत और अक्खड़ मुद्राएँ नहीं हैं, इसके उलट उनमें अपने प्रति निर्मम होकर अपने पूर्वकथनों को काटने का साहस है। यही नहीं है कि उनमें विरोधाभास नहीं हैं, असंगतियाँ नहीं हैं। हैं और ख़ूब हैं पर आत्मालोचना के दौर में पुनर्परीक्षा करने पर वे उन्हें दूर कर सके हैं। इसलिए उनके एक आलोचना के दौर को अन्य आलोचना दौरों से काटकर नहीं देखा जा सकता। इन दौरों में बाहरी ही नहीं, एक अंदरूनी सिलसिला भी है जिसे पहचाना जाना ज़रूरी है। डॉ. मदान की आलोचना अवधि लगभग उतनी ही लंबी है जितनी आधुनिक आलोचना। उनकी मार्फ़त आधुनिक हिंदी आलोचना के चेहरे की पहचान पाई जा सकती है। वे उस चेहरे के नैन-नक़्श हैं।"[34] लगभग चार-पाँच दशक तक निरंतर आलोचना-कर्म में प्रवृत्त रहना और वह भी पूरी निष्ठा, ईमानदारी, संवेदनशीलता के साथ कि एक पूरे आलोचना के युग में अपना विकास करते रहना मदान जैसे निष्ठावान्, संघर्षशील व्यक्ति के ही बूते की बात थी। अपने समय के बड़े प्रतिष्ठित आलोचकों की धारणाओं की इतनी निर्ममतापूर्वक आलोचना करने, असहमति और अस्वीकार का नैतिक साहस उनमें था। भले ही उस दौर के आलोचकों ने उनकी धारणाओं को स्वीकार न किया हो, लेकिन आलोचकों के आलोचक वे सदैव बने रहे। निरंतर अपनी धारणाओं को काटते-छीलते, माँजते-तराशते- निखारते हुए वे नई पीढ़ी के लोगों का नोटिस भी लेते रहे, साथ ही मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा के लेखन को भी उन्होंने महत्त्व दिया। कुमार विकल की काव्यात्मक संवेदना को रेखांकित करने में मदान जी का बहुत बड़ा योगदान रहा

है। मदान जी के दौर में ही पंजाब हिंदी साहित्यिक-आलोचनात्मक गतिविधियों के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर उभरकर आया।

डॉ. इंद्रनाथ मदान के सतत प्रयास से ही साहित्य और आलोचना में सेक्युलर दृष्टि का विकास संभव हो सका। आलोचना की एक नई ज़मीन तैयार करने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, इंद्रनाथ मदान से होती हुई डॉ. रमेश कुंतल मेघ, नरेंद्र मोहन, गंगा प्रसाद विमल, वीरेंद्र मेहंदीरत्ता, यश गुलाटी, अतुलवीर अरोड़ा, विनोद शाही, सेवा सिंह, सत्यपाल सहगल जैसे लेखक-आलोचक इस दिशा में सक्रिय हुए तथा आज भी सक्रिय हैं। सिद्धांत प्रतिपादन, प्रतिमानीकरण में उनका बहुत अधिक विश्वास न था, लेकिन उसका वे विरोध भी नहीं करते थे। उनका मानना था कि इन सिद्धांतों, प्रतिमानों का निरूपण हम किस प्रकार कर रहे हैं, उससे कृति खुल रही है अथवा वह कृति पर लादी जा रही दृष्टि है? कुपढ़ लोगों के हाथों में बड़े-से-बड़े आलोचना के प्रतिमान औज़ार कृति के लिए कितने घातक सिद्ध हो सकते हैं, इन ख़तरों को भी वे बार-बार पहचान रहे थे। उनकी तीखी आलोचना भी करते रहे। अपने समय के पूरे आलोचनात्मक संसार से असहमति रखने का नैतिक साहस मदान में ही था। वे आचार्य शुक्ल की धारणाओं से भी असहमत होने का साहस रखते थे।

ज़िंदगी-भर वादों, दलों, गुटों का तीखा विरोध करने वाले मदान स्वयं पंजाब के जनवादी लेखक संघ के प्रधान बने। उनका मानना था, "जनवादी आंदोलन से मैं जुड़ा हूँ, इसकी ज़िम्मेदारी पहचानता हूँ। व्यवस्था का विरोध मैंने शुरू से किया है, अब भी करूँगा। मुझे मौक़ा नहीं मिल रहा कि खरी-खरी सुना सकूँ।" जनवादी लेखक संघ से जुड़ने के पीछे उनका मनोरथ यही था कि लेखक संगठन जो कमज़ोर पड़ते जा रहे हैं, उनमें वह नैतिक चेतना, प्रतिबद्धता नहीं है जो राष्ट्रीय हित, सामाजिक हित के लिए ज़रूरी है, इसलिए उससे जुड़ना ज़रूरी समझते थे कि एक लेखक का काम सोशल एक्टिविस्ट सामाजिक कार्यकर्त्ता का भी है। बशर्ते वह अपनी भूमिका का सार्थक निर्वाह करे। वैसे संगठनों, लेखक-संघों की भी उन्होंने आलोचना की है। एक पत्रकार के सवाल पूछने पर कि आप जनवादी कैसे बन गए? आख़िरी उम्र में कलमा कैसे पढ़ने लगे हैं? तो इसका उत्तर मदान ने इकबाल के शेर से दिया–

"मस्जिद तो बना दी शब भर में इमां की हरसत वालों ने
मन अपना पुराना पापी है बरसों में नमाज़ी बन न सका।।"

गुफ़्तार का ग़ाज़ी तो बना किरदार का ग़ाज़ी बन न सका। जनवादी बिना किरदार के किस तरह जनवादी हो सकता है। अंत में मैं अपनी इस भेड़ को ज़िंदगी की दुआ देकर गलकटियन के यानी आपके बाड़े में हाँके देता हूँ। ख़ुदा ख़ैर करे।"[35]

जनवादी भी हुए तो जनवाद की सीमाएँ और अपनी सीमाओं को पहचानते हुए कि कोई भी प्रगतिशील, जनवादी बिना किरदार, कर्म के किस तरह का जनवादी हो सकता है? प्रगतिशील लेखक संघ एवं जनवादी लेखक संघ, लेखक संगठनों की कमियों और भूमिका को भी वे बख़ूबी पहचानते थे कि केवल लेखक-संघ बना लेना या उसका अध्यक्ष बन जाने से मसले हल होने वाले नहीं हैं, इसके लिए बहुत बड़ी ऐतिहासिक भूमिका, नैतिक दायित्व-बोध की ज़रूरत है जो आजकल के लेखकों, बौद्धिकों में नहीं है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि आज लेखक/बौद्धिक संगठनों की भूमिका ख़त्म हो चुकी है, बल्कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय संकट गहरा रहा है, नव उपनिवेशवाद का ख़तरा बढ़ रहा है, लेखक-संगठनों की भूमिका और भी बढ़ गई है और लेखक संगठन उतने ही कमज़ोर और निष्क्रिय! इसीलिए उन्होंने यह प्रश्न उठाया था कि बिना किरदार के जनवादी कैसा? यह प्रश्न आज भी हमारे लेखक संगठनों, विभिन्न विचारधाराओं से संबंध रखने वाले लेखकों, बौद्धिकों के लिए एक गंभीर चुनौती है कि वे अपनी भूमिका पर पुनर्विचार करते हुए आत्मावलोकन करें कि इतिहास के इस संकटग्रस्त, चुनौतीपूर्ण दौर में उनकी भूमिका क्या है? इन लेखक संघों, संगठनों का औचित्य क्या है? इनकी भूमिका क्या है? जनोन्मुखी भूमिका के प्रति वे कितने जवाबदेह हैं अथवा इनकी भूमिका महज़ औपचारिकताएँ निभाने, विरोध प्रदर्शन करने, सदस्यता, चंदा, सम्मेलनों के आयोजनों तक सिमटकर रह गई है?

जीवन-दृष्टि

इंद्रनाथ मदान अविवाहित रहे, लेकिन ज़िंदगी में उन्होंने कभी ख़ालीपन-एकाकीपन अनुभव नहीं किया। इसकी आपूर्ति किताबें करती रहीं। सिवाय अध्ययन, चिंतन-मनन, लेखन और शेष समय अपनी बगिया में फूलों, शाक पत्तियों, पंछियों के संग। उनका मानना था जब जवानी का दौर था, तब आर्थिक समस्याओं ने जवानी का गला घोंट दिया था और जब आर्थिक स्थिति ठीक हुई तो 'जवानी सरक चुकी थी।' जयनाथ नलिन ने मदान जी की इस ज़िंदगी पर ख़ूबसूरत टिप्पणी की है—"डॉ. मदान अविवाहित हैं, लेकिन एकांत जीवन का पछतावा न उनकी साँसों में तड़पता है, न आँखों में छलकता या झलकता है। आशा, उल्लास, आनंद, विश्वास उनका जीवन-दर्शन है। अतीत के आँसू उन्हें नहीं भिगोते, भावी के सपने उनकी नींद को नष्ट नहीं करते। वह वर्तमान के भोगी हैं। एक बार मैं उनसे पूछ बैठा—'क्या कभी अविवाहित जीवन का अभाव आपको नहीं सताता?' पुस्तकों की ओर संकेत कर उन्होंने

मुस्कराते हुए बताया—ये इस अभाव को पूरा कर देती हैं।"[36] एक ओर जहाँ डॉ. मदान अपने निजी पुस्तकालय की दुनिया में घिरे हुए थे, वहीं उनका प्रकृति, पेड़-पौधों, सब्ज़ियों, बाग़वानी से गहरा लगाव था। अपने विद्यार्थियों, शोधार्थियों को ही वे अपने जीवन की सबसे बड़ी पूँजी मानते थे। ज़िंदगी की जितनी गहरी समझ उनके पास थी उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि ज़िंदगी के रग-रेशों, यथार्थ से वे कितनी गहराई से जुड़े हुए थे। व्यंग्य की बहुत पैनी धार उनके लेखन एवं भाषणों में स्पष्ट गूँजती थी। उनका रचनात्मक लेखन हो अथवा आलोचनात्मक चिंतन, अध्यापन हो अथवा वार्त्ताएँ व्यंग्य की धार सर्वत्र दिखाई देती है। अपने विरोधियों के बारे में उनका कहना था—"इनमें कुछ विरोधियों ने इतना विरोध किया जो कभी-कभी परेशान करने वाला था। हर तरह का आरोप अनाम पत्रों में मुझ पर लगाया गया, लेकिन एक आरोप अब तक नहीं लगा। आम-तौर पर किसी को मारने के लिए दो तरह के आरोप लगाए जाते हैं—एक औरत का और दूसरा दौलत का। दौलत या रिश्वत के आरोप से बच निकला हूँ। एक तीसरा आरोप जो मुझ पर लगाया गया वह हिंदी के बारे में था। मुझे हिंदी नहीं आती, लेकिन जब पान और ज़रदा लेना शुरू किया तो इस आरोप से भी वज़न नहीं रहा। अब तो हिंदी समाज का सदस्य होने के नाते मेरे तीनों संस्कार हो चुके हैं—अभिनंदन, उद्घाटन और विमोचन। पंजाब सरकार ने उन्नीस साल पहले एक साहित्यकार के नाते, जो मैं नहीं हूँ, मेरा अभिनंदन कर दिया। मेरे यारों ने अनेक बार मेरा उद्घाटन कर दिया, जिसका मैं आभारी हूँ। इसके बाद पंजाब विश्वविद्यालय ने पाँच साल पहले मेरा विमोचन भी कर दिया है।"[38] व्यंग्य के हल्के-हल्के छींटे उनके सृजन को इतना सरस बना देते हैं कि ज़िंदगी का सच पाठक के सामने प्रस्तुत कर रहे हों। प्रश्नकर्त्ता सकपकाकर रह जाता है कि उसने क्या पूछा था और उसका उत्तर उसे क्या मिला! बड़े-बड़े आलोचकों को अपनी आलोचना में उन्होंने जिस प्रकार लिया उसकी बानगी उनकी आलोचनात्मक पुस्तकों में साफ़ दिखाई देती है कि वे कितने बहुपठित, प्रतिभासंपन्न, प्रबुद्ध एवं प्रखर आलोचक थे।

सिर्फ़ आलोचना करने के लिए ही आलोचना नहीं करते थे और न ही विरोधी को पटकने में उनकी रुचि थी, बल्कि वे अपना पक्ष, मत भी प्रस्तुत करते थे, पूरी पारदर्शिता, तर्कशीलता के साथ। इसके बावजूद वे स्वयं को साहित्यकार नहीं मानते थे। हिंदी और अंग्रेज़ी दोनों पर उनका ज़बर्दस्त अधिकार था। अध्यापन की शुरुआत तो अंग्रेज़ी से ही की थी और उनकी तीन पुस्तकें—'मॉडर्न हिंदी लिटरेचर', 'प्रेमचंद : एन इंटरप्रेटेशन', 'शरतचंद्र चटर्जी : हिज़ माइंड एंड आर्ट' अंग्रेज़ी में ही प्रकाशित हुईं। उनकी यह बराबरी डॉ. रामविलास शर्मा जैसे दिग्गज आलोचक से है जो दोनों भाषाओं के समान अधिकारी रहे हैं। इसीलिए हिंदी के आलोचक उन

पर आरोप लगाते रहे कि यह तो हिंदी का आदमी ही नहीं है और 'जबसे पान-ज़रदा लेना शुरू किया तो इस आरोप से भी मुक्ति पा लीं।' पंजाब सरकार ने, जब उन्हें साहित्य-शिरोमणि पुरस्कार से पुरस्कृत कर उनका अभिनंदन किया तो वहाँ भी वे यह कहते सुनाई दिए—"मैं सच कहता हूँ कि मैं लेखक नहीं हूँ और यह विनय-भाव से नहीं अहं भाव से कह रहा हूँ। अगर पंजाब सरकार को मेरे साहित्यकार होने का वहम हो गया है तो मैं इसका दोषी नहीं हूँ।" इतना ही नहीं, पुरस्कार में मिली धन-राशि को सव्यसाची को सौंपते हुए ये शब्द कहे—"इस अभिनंदन समारोह में जिस सव्यसाची का हाथ है उसका नाम लिए बिना नहीं रह सकता। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने अपराध को सहज स्वीकार भी कर लिया है। इसलिए सबकी स्नेह सराहना का ऋण चुकाने के लिए वह थैली, जो मुझे भेंट में मिली है, सव्यसाची को सौंपना चाहता हूँ ताकि यह हिंदी के काम आ सके। हिंदी के लिए पहले जब साधन नहीं थे तब साधना थी, लेकिन आज जब साधन हैं तो साधना रूठ रही है। अंत में मेरी एक छोटी-सी चाह भी है। इस अवसर की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए ख़ाली थैली मुझे लौटा दी जाए। और ख़ालीपन से मेरा सदा मोह भी रहा है।"[38] इतने उदात्त विचार और इतना गरिमामय व्यक्तित्व जो भौतिक लालसाओं, प्रशस्तियों, पुरस्कारों में विश्वास नहीं रखता, जिसकी निगाह में साधन नहीं, साधना महत्त्वपूर्ण है और आज जब साधन इतने बढ़ गए हैं, वहीं साधना का रूठना, ख़त्म होना भी इस सदी की भयावह घटना है। हिंदी में कितने ऐसे लेखक हैं जो पुरस्कारों से प्राप्त धनराशि को किसी साहित्यिक, सामाजिक संस्था के उत्थान हेतु समर्पित करने में कृत संकल्प हैं? केवल विचारधाराओं, घोषणाओं, स्थापनाओं के बल पर दुनिया को नहीं बदला जा सकता, उसे बदलने के लिए खुद को बदलना, ढालना भी उतना ही ज़रूरी होता है। पंजाब के इस गरिमामय व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सही परिप्रेक्ष्य में समझना और उनकी संवेदना का विकास-विस्तार करना आज के समय की फ़ौरी ज़रूरत है। इंद्रनाथ मदान के सहकर्मी वीरेंद्र मेहंदीरत्ता ने उनके योगदान के बारे में सही लिखा है—"अगर कोई मुझसे पूछे कि डॉ. मदान की पंजाब को सबसे बड़ी देन क्या है? तो मेरा जवाब होगा!

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी!!

पंजाब विश्वविद्यालय में हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का प्रोफ़ेसर के रूप में सालों तक रहना इस प्रदेश के सांस्कृतिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण घटना थी। डॉ. मदान बड़े मान के साथ अक्सर कहते थे—'द्विवेदी जी को पंजाब में मैं लाया था।' और आचार्य द्विवेदी जी बड़े स्नेह के साथ डॉ. मदान के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए कहा करते थे—मुझे नहीं मालूम था कि मेरी विपत्ति में कोई मेरी संपत्ति भी बन सकता है।"[39] यह मदान जैसा उदारचेता, दृष्टि संपन्न व्यक्ति ही सोच सकता था

कि कैसे पंजाब का नाम पूरे राष्ट्रीय परिदृश्य में आ सके, जहाँ देश का प्रत्येक सुसंस्कृत, प्रबुद्ध साहित्यिक जन यहाँ की सेक्युलर संस्कृति से परिचित हो सके। एक दूरदर्शी, निष्पक्ष, दृष्टिसंपन्न व्यक्ति ही ऐसी दूरगामी सोच रख सकता है अन्यथा इस पूँजीवादी गला-काट प्रतिस्पर्द्धा के दौर में कौन अपना वर्चस्व-प्रभुत्व छोड़ना चाहता है। पंजाब में जो एक साहित्यिक वातावरण तैयार हुआ उसके पीछे डॉ. इंद्रनाथ मदान की दूरदर्शिता ही थी कि यहाँ साहित्यकारों, आलोचकों, पाठकों की एक नई संवेदनशील पीढ़ी तैयार हुई। रमेश कुंतल मेघ, गंगा प्रसाद विमल, नरेंद्र मोहन, मोहन राकेश, कृष्ण भावुक, कुमार विकल जैसी सृजनशील प्रतिभाएँ इसी सांस्कृतिक वातावरण की देन हैं।

डॉ. इंद्रनाथ मदान में कहीं भी महत्त्वाकांक्षा न थी, हाँ बौद्धिक स्तर पर 'ग्रो' करने की उनमें बहुत तड़प थी जिसके लिए वे जीवन-पर्यंत नए से नया पढ़ते, 'जुगाली करते रहे'। पुस्तकों की दुनिया में घिरा वह जानदार, शानदार व्यक्तित्व जो 'क्लासिक्स' को ही नहीं, नई पीढ़ी के रचनाकारों को भी पढ़ता-पहचानता था, उनमें उन्नति पाने की कोई ललक नहीं थी—"बड़ी ईमानदारी से एक सच्चाई बताऊँ, उन दिनों मेरे दिमाग़ में प्रोफ़ेसरशिप का जो 'इमेज़' था, उस नज़रिए से मैं अपने-आपको प्रोफ़ेसर बनने के योग्य भी नहीं समझता था।"[40] आज जब सर्वत्र प्रोफ़ेसरशिप पाने, दूसरों को पीछे धकेलने, आगे बढ़ने की चूहा-दौड़ मची है कि बुद्धिजीवी रातोंरात समृद्धि और प्रसिद्धि चाहते हैं, वहाँ मदान जैसा व्यक्तित्व जो इतना पढ़-लिखकर भी स्वयं को इस लायक़ नहीं समझता! व्यंग्य वे बहुत गहरा करते हैं, हमारे शिक्षा जगत् की उस स्तरहीनता, नैतिक पतन, बुद्धिजीवियों की गिरावट की उस स्थिति पर इससे तीखी टिप्पणी (आयरनी) और क्या होगी! बौद्धिक संसार पर इतना तीखा और गहरा व्यंग्य!

इंद्रनाथ मदान के संस्मरणात्मक शैली में लिखे गए आत्मपरक निबंध उनकी अभिरूचियों, आस्वादों, कमज़ोरियों को भी रेखांकित करते हैं। मेहंदीरत्ता ने उनके रंगीन व्यक्तित्व के बारे में लिखा है—"अपनी पसंद के संबंध में बड़े साफ़ थे। खाने में कढ़ी और अचार; फूलों में गुलदौदी और गुलाब; फलों में आम; छात्रों में फ़र्स्ट क्लास और छात्राओं में ख़ूबसूरती; कवियों में निराला और महादेवी, कहानीकारों में उषा प्रियवंदा और राजी सेठ और उपन्यासों में *गोदान* और *वे दिन*! सभी इंसानी कमज़ोरियों के बावजूद यह आदमी कितना जानदार था, यह डॉ. मदान को नज़दीक से जानकर पहचाना। जब कभी नफ़रत करे तो इस क़दर कि अपनी वसीयत में लिख दे फलां आदमी को मेरे अंतिम संस्कार के समय शामिल न होने दिया जाए; जब कभी प्यार की निगाह पड़े तो इस क़दर कि एक अनजानी लड़की को बेटी बनाकर उसे अपनी लाखों की जायदाद की वारिस घोषित कर दे।"[41] इतना उदार,

ज़िंदादिल इंसान आज के समय में दुर्लभ है। अपनी कमज़ोरियों को कभी छिपाया नहीं, अपितु उन्हें पूरे यथार्थ के साथ ललित निबंधों में पाठकों के सामने रखा है। 'अपनी बोरियत को कम करने के लिए इधर-उधर की हाँक लेता हूँ।' 'अब इस बेरी पर बेर नहीं रहे, इसीलिए लोगों का आना-जाना प्राय बंद हो गया है।' 'बैठे-ठाले कविता की वजाय शायरी कर लेता हूँ, अभी तक पत्र लिखने और पाने की लालसा क़ायम है। कभी-कभी इतवार को भी लैटर-बक्स खोल लेता हूँ। शायद डाक विभाग ने अपनी नीति बदल ली हो।' इस प्रकार की आत्माभिव्यक्तियों से उनकी जीवन-दृष्टि का भी बोध होता है कि सेवानिवृत्ति के बाद व्यक्ति के जीवन में जो एकाकीपन होता है, उसे कैसे भरा जाए। वे पूँजीवादी समाज के उस स्वार्थीपन से भी परिचित थे कि संबंध वहाँ कैसे अर्थ-केंद्रित, स्वार्थ-केंद्रित, पूँजी-केंद्रित होते हैं। एकाकी जीवन के बारे में उनका कहना था–"एकाकी जीवन अनुभव का विषय है, बहस का नहीं। यह गूँगे के गुड़ के समान है...अविवाहित रह जाने पर खेद व्यक्त करना उतना ही बेकार है, जितना जीने पर। अविवाहित रह जाने पर इसलिए भी खेद नहीं कि मुझे नारी से घृणा नहीं, स्नेह है। हर नए युगल को जब भुलावे पर पड़ा देखता हूँ तब जी को चैन मिलता है।"[42] अपने एकाकीपन, ख़ालीपन को भरने के लिए उनके पास अपना निजी पुस्तकालय था और घर में प्रकृति का अनूठा संग्रह–"मुझे अपने पेड़-पौधों से उतना ही मोह है जितना एक पिता को अपनी संतान से हो सकता है। जब बाहर से लौटता हूँ, तब सबको एक-एक करके आवाज़ देता हूँ। इन आवश्यकताओं को बिना कहे पूरी करता हूँ। परंतु व्यस्तता मुझे अधिक अकेला छोड़ जाती है।"[43] जो व्यक्ति, पुस्तकों, लोगों, मित्रों और प्रकृति से इस प्रकार घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ हो, उसके जीवन में एकाकीपन, ख़ालीपन कैसे आ सकता है! वे अपने अकेलेपन से अपने ढंग से जूझते हैं।

पालिता बिटिया का विवाह करने के उपरांत वे पुनः किताबों और प्रकृति से जुड़ गए। यही कारण है कि हर साल उनके चश्मे का नंबर बदलता रहा, लेकिन भीतर की रोशनी उतनी ही बढ़ती, साफ़ होती गई। इस बारे में पुनः व्यंग्यात्मक मुद्रा में वे लिखते हैं–"लाहौर में नई से नई पुस्तक की बात करने का रिवाज-सा हो गया था। सब पुस्तकों को पढ़ना संभव न था। इसलिए कुछ के बारे में सूचनाओं तथा आलोचनाओं के आधार पर ही बात करने का अभ्यास हो गया था। इसका मैंने पूरा लाभ भी उठाया है। आज तक इसका राज़ कहीं खुलने नहीं दिया। इसीलिए शायद एक विद्वान् होने का भ्रम मेरे बारे में बना हुआ है, चाहे एक हिंदी का विद्वान् होने में संदेह क्यों न रहा हो। यह संदेह भी तब से दूर होने लगा है, जब से पान चबाना शुरू कर दिया है। इसलिए अब पुस्तकों से उकता जाना स्वाभाविक ही नहीं

रहा, आवश्यक भी हो गया है। आज प्रोफ़ेसरी का पद पाने के लिए इन तीन योग्यताओं से संपन्न होना पड़ता है—अपना मकान, अपनी गाड़ी और पढ़ना-लिखना बंद। मैंने भी पढ़ना-लिखना बंद कर दिया है। कभी-कभार जब पुरानी आदत से मजबूर हो जाता हूँ और वक़्त कटी के लिए किसी और साधन को जुटा नहीं पाता, तब केवल अपनी निजी पुस्तकों का ही पाठ करता रहता हूँ। इसकी वजह यह भी है कि इनके पाठक बहुत कम हैं, इसलिए कि ये हर वक़्त लायब्रेरी में मिल जाती हैं। इन्हें वहाँ इस स्थिति में पड़ा देख कर भी जी को चैन मिलता है कि मेरा नाम भी लेखकों में शुमार हो गया है, लेकिन स्वाधीनता के बाद हिंदी के लेखक साहित्यकार कहलाने लगे हैं। साहित्यकार लेखक से बड़ा समझा जाने लगा है, लेकिन एक छोटा शहीद होने का भी निजी संतोष होता है।"[44] इंद्रनाथ मदान व्यंग्य भले ही खुद पर करें, लेकिन उनकी मार अथवा चोट बहुत दूर तक होती है। कहीं-कहीं उनके आत्म-वक्तव्यों में यह भ्रम भी होने लगता है कि मदान जी का संकेत यहाँ किस ओर है? समाज में लेखक की स्थिति को खोलने के लिए वे बात सदैव अपने से शुरू करते हैं, ताकि सुनने वाले को उनसे कोई ग़िला न हो, लेकिन आत्मपरक शैली का प्रयोग वे इस तरह करते हैं कि पूरे समाज-तंत्र, व्यवस्था-तंत्र, शिक्षा-तंत्र की एक-एक विसंगति और परत उधेड़ती चले हैं। उनकी शैली सदैव आत्मपरक रहती है कि 'मैंने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया है, पढ़-पढ़कर उकता गया हूँ।'

मोहन राकेश के प्रति डॉ. मदान का विशेष स्नेह था। वे मदान जी के पारिवारिक सदस्य थे। डॉ. मदान ने कोई परिवार तो नहीं बसाया, लेकिन उनका साहित्यिक परिवार बहुत बड़ा था। मोहन राकेश मदान जी के साथ शिमला में साथ व्यतीत किए क्षणों का उल्लेख करते लिखते हैं—"अरे क्यों कन्नी काट कर जा रहा है? इन लोगों से कतराने की ज़रूरत नहीं। ये सब अपने घरों को जा रहे हैं, इनकी बीवियाँ इनका इंतज़ार कर रही हैं!" और पास आने पर कहते, "ब्याह कराने का बस एक ही फ़ायदा है। आदमी को दोस्तों से इजाज़त लेकर घर जाने का बहाना मिल जाता है। यूँ चाहे अपने घर न जाकर जाना किसी और ही के घर हो। बेतकल्लुफ़ी, उस हद तक कि कच्चे पैरों पर चलने वाले आदमी के पैर उखड़ जाएँ। सच्चाई उस सीमा तक कि बात करने वाला अपने लबादे के बटनों पर हाथ रखे रहे।"[45] डॉ. मदान की इस साफ़गोई पर उनके समकालीन रचनाकर्मी कमलेश्वर ने भी उनके बारे में यही कहा है—"और मैं सोचता हूँ कि ऐसे लोगों की कमी क्यों है हमारे बीच...जिससे मिला उसमें कुछ-न-कुछ पेचो-ख़म मिला और अक्सर मन उदास हुआ, पर जब मदान साहब से मिला तो सचमुच —

बहुत जी खुश हुआ, 'हाली' से मिलकर
अभी कुछ लोग बाक़ी हैं जहाँ में।"[46]

डॉ. मदान के दौर का कोई भी ऐसा साहित्यकार, समालोचक नहीं, जिसने उनकी विद्वता, सृजनशीलता, संवेदनशीलता का उल्लेख न किया हो। राजेंद्र यादव, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर से लेकर कुमार विकल और नए-से-नए रचनाकारों का उन्होंने गंभीरतापूर्वक नोटिस लिया। उनकी पसंदगी-नापसंदगी बिल्कुल साफ़ थी। बड़े-से-बड़े लेखक को भी उनसे यह कहते सुना है—"तुम्हारी इधर की दोनों कहानियाँ पसंद नहीं आईं। तुम्हें यह आत्मपरकता का रोग कब से लग गया है? मुझे लगता है कि दिल्ली में रहने वाले सब लेखक एक ही दर्ज़ी के यहाँ से कपड़े सिलाने में विश्वास रखते हैं। यह फ़ैशनपरस्ती तुम लोगों की रचनाओं को मार देगी, यह अच्छी तरह समझ लो।" या—"प्रिय राकेश, पाँचवें माले से नीचे मत उतरो—मदान।"[47] उनके निबंध हों अथवा आलोचना या बातचीत सर्वत्र उनकी सृजनशीलता की गंध दिखाई देती है। उन्होंने कहीं भी घुमावदार शैली में या अकादमिक दुरूह भाषा में न लिखा है और न ही बोला है। बँधी-बँधाई परिपाटी को तोड़ना और बहुत ही स्पष्टवादी शैली में कहना, अपनी बात को रोचक बनाने के लिए विनोदपूर्वक शैली का प्रयोग, व्यंग्यात्मक ढंग से कहना, उनकी विशिष्ट कला थी, जिससे अक्सर लोग चिढ़ते भी थे और बुरा भी मान जाते थे, क्योंकि खरी-खरी सुनने-सहने की क्षमता मध्य वर्ग में नहीं होती। यह वर्ग हिपोक्रैसी, खुशामदी, चापलूसी, चाटुकारिता में विश्वास करता है और मदान जी को ये चीज़ें सर्वथा नापसंद थीं। इनकी तीखी आलोचना उनके ललित निबंधों में सर्वत्र दिखाई देती है। मोहन राकेश जो मदान के बहुत ही घनिष्ठ मित्रों में से थे, उनके व्यक्तित्व के बारे में लिखते हैं—"डॉक्टर मदान की सबसे बड़ी ख़ूबी उनके खरेपन में है—यह खरापन किसी तरह के समझौते या उलझाव का अवकाश ही नहीं रहने देता। अश्क हों या यशपाल, रेणु हों या कमलेश्वर, मन्नू हो या अमरकांत, दूर रहते हुए भी सबके जीवन में वे एक व्यक्तिगत दिलचस्पी रखते हैं, उनकी खुशियों और परेशानियों में एक निजी खुशी और परेशानी महसूस करते हैं। अपने अकेलेपन में रहते हुए भी वे जीते उस अकेलेपन में नहीं—साहित्य के क्षेत्र में जितना सृजनशील वर्ग है, उसके साथ वे एक आंतरिक परिवार-भावना से जुड़े रहते हैं।...परिवार के लोग इस संबंध को जानें या न जानें, डॉक्टर मदान अपनी एकतरफ़ा परिवार-भावना, संबंध-भावना से ही संतुष्ट रहते हैं। परिवार के लोग इसे न समझ पाएँ, या ग़लत ढंग से लें, तो भी उनकी भावना में अंतर नहीं आता— "यह सब तो चलता ही रहता है। इन बातों को ज़्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए।"[48]

उनका अपने साहित्यिक परिवार (समाज) से जो भावात्मक, रागात्मक लगाव रहा है, उसे उस दौर के सृजनकर्मियों, आलोचकों, सहकर्मियों, छात्र-छात्राओं की टिप्पणियों, संस्मरणों से पता चलता है कि कैसे एक अकेला व्यक्ति जिसने परिवार, विवाह-संस्था को अस्वीकार किया, लेकिन उनका सामाजिक परिवार, साहित्यिक परिवार कितना विशाल था कि दूर बैठे भी हरेक के दर्द को भीतर तक अनुभव करते थे। वह चाहे मोहन राकेश की ज़िंदगी हो या कमलेश्वर, कुमार विकल हों या उपेंद्रनाथ अश्क, रमेश कुंतल मेघ हों या प्रेमशंकर—सभी के साथ वे बहुत अंतरंग रूप से जुड़े हुए थे। यही जुड़ाव और लगाव उनके जीवन के एकाकीपन, ख़ालीपन को भरता रहा। इन सबके बावजूद वे साहित्यिक गुटबाज़ियों, दलगत आग्रहों, वादों, बाड़ों से दूर ही रहे। वे सही अर्थों में साहित्य और जीवन के प्रति एक समर्पित इंसान थे।

संदर्भ :

1. इंद्रनाथ मदान, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 1.
2. वही, पृ. 2.
3. वही, पृ. 2.
4. वही, पृ. 3.
5. वही, पृ. 115.
6. ओम अवस्थी, 'कृति की राह से गुज़रता अकेला आदमी', परिशोध 41, पृ. 9.
7. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, 'जनसाहित्य', अभिनंदन अंक, मई 1964, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला, पृ. 'भूमिका' से।
8. मदान, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 115.
9. वही, पृ. 15.
10. वही, पृ. 16.
11. वही, पृ. 16.
12. वही, पृ. 115.
13. मदान, *कुछ उथले कुछ गहरे*, पृ. 77.
14. वही, पृ. 77.
15. वही, पृ. 75.
16. वही, पृ. 38.
17. मदान, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 11.
18. वही, पृ. 14.
19. विनय मोहन शर्मा, जन-साहित्य, मई 1964, पृ. 'भूमिका' से
20. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, 'जनसाहित्य', अभिनंदन अंक, मई 1964, पृ. 'भूमिका' से।

21. सूर्य भानु, 'खरी-खरी कहने का धनी', जनसाहित्य, पृ. 27.
22. रंजन, जन-साहित्य, पृ. 69.
23. वीरेंद्र मेंहदीरत्ता, 'डॉ. मदान : एक व्यक्तित्व, परिचय', जनसाहित्य, पृ. 80.
24. मदान, 'सुगम तथा शास्त्रीय संगीत', पृ. 105.
25. प्रेमशंकर, 'परिशोध' अंक 41, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, पृ. 1-2.
26. वही, पृ. 3.
27. ओम अवस्थी, 'कृति की राह से गुज़रता अकेला आदमी', परिशोध 41, पृ. 10.
28. वही, पृ. 4.
29. शिवकुमार मिश्र, 'परिशोध', वही, पृ. 6.
30. ओम अवस्थी, 'कृति की राह से गुज़रता अकेला आदमी', परिशोध 41, पृ. 6.
31. वही, पृ. 5.
32. मदान, *निबंध और निबंध*, पृ. 85.
33. मदान, 'आधुनिकता और हिंदी साहित्य', 'भूमिका' से
34. नरेंद्र मोहन, 'अधूरी आलोचना जो पूरी होने से बेहतर है', 'परिशोध' अंक 41, पृ. 18.
35. मदान, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 120.
36. जयनाथ नलिन, 'जनसाहित्य', मई 1964, पृ. 6.
37. मदान, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 4.
38. वही, पृ. 51.
39. वीरेंद्र मेंहदीरत्ता, 'परिशोध' अंक 41, पृ. 32.
40. मदान, *कुछ उथले कुछ गहरे*
41. वीरेंद्र मेंहदीरत्ता, 'परिशोध' अंक 41, पृ. 30.
42. मदान, *कुछ उथले कुछ गहरे*, पृ. 68.
43. वही, पृ. 64.
44. वही, पृ. 44.
45. मोहन राकेश, ताली, जन-साहित्य, मई 1964, पृ. 46.
46. कमलेश्वर, 'अभी कुछ लोग हैं जहाँ में', 'जनसाहित्य', वही, पृ. 64.
47. मोहन राकेश, ताली, जनसाहित्य, मई 1964, पृ. 49.
48. वही, पृ. 50.

निबंधकार : इंद्रनाथ मदान

डॉ. इंद्रनाथ मदान एक ऐसे ललित निबंधकार हैं जिन्होंने हिंदी निबंध विधा को एक नई पहचान प्रदान की। *सुगम तथा शास्त्रीय संगीत, भानुमती का पिटारा, कुछ उथले : कुछ गहरे, निबंध और निबंध* उनके चर्चित निबंध-संग्रह हैं, जिनमें उनका गहन चिंतन, आत्मपरक अनुभूतियाँ, ज़िंदगी की गहरी समझ पूरी प्रखरता, व्यंग्यात्मकता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। इंद्रनाथ मदान के निबंधों को आलोचकों ने ललित निबंधों की कोटि में रखा है, क्योंकि उनके अधिकांश निबंधों का संबंध उनकी निजी, व्यक्तिगत अनुभूतियों से रहा है। ऐसे निबंध उनके व्यक्तिगत जीवन से अवश्य जुड़े हैं, लेकिन अपने निज की बात करते हुए वे पूरी समाज-व्यवस्था के यथार्थ को व्यंजित करते चलते हैं। ऐसे निबंध व्यक्तिनिष्ठ, आत्मनिष्ठ होने के बावजूद बहुत गहरे सामाजिक सरोकारों से भी जुड़े हुए हैं, इसलिए उन्हें नितांत व्यक्तिनिष्ठ, आत्मनिष्ठ भी नहीं कहा जा सकता।

यश गुलाटी ने उनके निबंधों पर विचार करते हुए लिखा है, "इंद्रनाथ मदान के निबंध साहित्य के अध्ययन से मालूम होता है कि उनकी बीसियों रचनाएँ इस कोटि में आती हैं। उनके अनेक निबंध तो शुद्ध वैयक्तिक निबंध ही हैं, जिनमें वे निजी जीवन की घटनाओं, संघर्षों और अनुभवों का सीधे-सीधे व्यक्तीकरण करते हैं। मिसाल के तौर पर 'व्यक्तिगत', 'जब मैं जवान था', 'विदा-अलविदा', 'अभिनंदन पर', 'अभिनंदन के बाद', 'बीमार पड़ने पर', 'शिमला : मेरी याद में', 'चंडीगढ़ : मेरे सामने', 'चौथे अभिनंदन पर'। इन निबंधों में वे आम तौर पर संस्मरणात्मक शैली में, अपनी ज़िंदगी की सफलताओं- असफलताओं, हर्ष-विषाद का बेबाकी से चित्रण करते हैं।"[1] यश गुलाटी ने मदान को ललित निबंधकार के रूप में पहचाना है, क्योंकि उनके निबंधों का मूल स्वर यही है, जिनमें वे जीवन की मुख्य घटनाओं की आत्माभिव्यक्ति करते हुए पाठकों के साथ सीधे-सीधे रू-ब-रू होते, उनसे

तादात्म्यता स्थापित करते हुए व्यक्तिपरक शैली में संवाद करते हैं। ललित निबंधों में जिस खुलेपन के साथ अपने निज को पाठकों के सामने खोलते हैं मानो अपने भीतर की सारी परतें एक-एक करके खोल रहे हों जहाँ कुछ भी निजी नहीं। कुछ भी गोपनीय नहीं। अपने निज को पाठकों के समक्ष सार्वजनिक करते हुए। हिंदी में कितने निबंधकार हैं जिन्होंने अपने आत्म को इतनी निर्ममतापूर्वक खोला है। अपने ऊपर न जाने कितने रंदे, वसूले चलाए हैं! इतनी निर्मम आत्मालोचना, खुद पर गहरा व्यंग्य करने की दृष्टि, या आत्मावलोकन, आत्मसाक्षात्कार जैसे मुक्तिवोध 'एक साहित्यिक की डायरी' तथा 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' में करते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हम उनके निबंधों को नितांत व्यक्तिपरक, आत्मपरक ललित निबंधों की कोटि में रखें? क्या लेखक के आत्म, निज को समझना पाठक के लिए ज़रूरी नहीं होता? क्या लेखक के 'स्व', निज, आत्म को जाने बिना हम उसकी रचनाशीलता, आलोचना को समझ सकते हैं? यदि इन प्रश्नों पर विचार किया जाए तो हमारे समक्ष मदान के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समझने की एक नई दृष्टि सामने आती है कि लेखक ने जो जीवन जिया है वह क्या था? कैसा था? उसका उसकी सृजनशीलता से क्या संबंध था? मदान जी के इस पक्ष को खोलते-समझाते हुए यश गुलाटी ने सही टिप्पणी की है–"नितांत निजी जीवन के प्रसंगों के ज़रिए व्यापक मानवीय पीड़ा को व्यंजित करने तथा मनुष्य की स्वार्थ-केंद्रित मानसिकता पर चोट करने की प्रवृत्ति उनके इस तरह के निबंधों में जगह-जगह नज़र आती है। अवकाश-प्राप्त व्यक्ति के फ़ालतूपन और बोरियत का यह अहसास मदान का निजी अनुभव नहीं रह जाता, उन जैसे लाखों लोगों की यंत्रणा का दस्तावेज़ भी हो जाता है।"[2] यही कारण है कि उनके व्यक्तिगत निबंध, जो उनकी नितांत निजी अनुभूतियाँ हैं, धीरे-धीरे वे सामाजिक, सार्वजनिक, प्रतीत होती हैं। यह है आत्म से अनात्म, केंद्र से परिधि, व्यक्ति से समाज की यात्रा। अपने आत्म का विकास और विस्तार!

ललित निबंध : आत्मपरक निबंध

ललित निबंधों का संबंध लेखक की निजी अनुभूतियों, अनुभवों, जीवन की घटनाओं, सफलताओं-असफलताओं, आशाओं-निराशाओं से होता है। संस्मरणात्मक शैली में लेखक अपने निज का आत्मावलोकन करता है। देखने वाली महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि लेखक अपनी आत्माभिव्यक्ति में कितना सफल हो सका है। कहीं उसे आत्मपरकता, आत्ममुग्धता का रोग तो नहीं है, जैसा कि आमतौर पर लेखकों, बुद्धिजीवियों में पाया जाता है! ऐसी आत्मपरकता, आत्ममुग्धता लेखक की सृजनशीलता

और व्यक्तित्व का हनन ही करती है। हिंदी लेखकों में जो आत्ममुग्धता है वह उनकी चेतना के विकास में बहुत घातक है। इससे बचना ज़रूरी है। इंद्रनाथ मदान के ललित निबंधों का यदि अध्ययन किया जाए तो एक बात स्पष्ट रूप में सामने आती है कि उनमें आत्ममुग्धता तो नहीं, आत्मालोचना और आत्मसजगता अवश्य है। बात भले ही वे ख़ुद से शुरू करते हैं, लेकिन उनकी चोट बहुत दूर तक होती है। पहाड़ों पर जैसे कुल्हाड़ी कहीं चलती है और आवाज़ दूर कहीं और से आती सुनाई पड़ती है।

अपने निबंध संग्रहों को *भानुमती का पिटारा, कुछ उथले कुछ गहरे* नाम देना अपनी सृजनशीलता पर ही सवाल खड़े करना है। मदान जी ख़ुद को लेखक साहित्यकार तक नहीं मानते और अपनी रचनाओं को *भानुमती का पिटारा* व्यंग्य रूप में कहते हैं कि 'अपनी बोरियत को कम करने के लिए इधर-उधर की हाँक लेता हूँ।' 'अब इस बेरी पर बेर नहीं रहे'। उनका अपने बारे में कहना है–"मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ। मेरी वेशभूषा, रहन-सहन, खानपान-व्यवहार सब साधारण है, मेरी प्रतिभा भी सामान्य कोटि की है। मेरे पास न तो लेखक के लंबे-लंबे घुँघराले बाल हैं...न ही उसकी कटी-छटी, बकरा दाढ़ी है, न रंग-बिरंगे वस्त्र हैं...न ही टेढ़ी-मेढ़ी लिपि है। अपनी सीमाओं से पूरी तरह अवगत हूँ। मेरे जीवन में विलक्षणता का अभाव है। मेरे मुख पर लेखक के मुख की तरह असंतोष की रेखाओं का अभाव है, मेरी आँखों में काव्यात्मक तरलता एवं गहनता के दर्शन नहीं होते। ऐसी स्थिति में मैं लेखक बनने की कल्पना कैसे कर सकता हूँ।"[3] ख़ुद को लेखक नहीं माना, लेकिन पूरी ज़िंदगी पढ़ने-लिखने-पढ़ाने में ही बीत गई। क्या इन पंक्तियों को व्यंग्य की तरह नहीं पढ़ा जाना चाहिए कि लेखक को ऐसा बार-बार क्यों कहना पड़ रहा है? हाँ, उनमें लेखकों जैसा विराट बाह्य प्रभामंडल अवश्य नहीं था। उनका मानना था 'मैं केवल एक पढ़ाने वाला व्यक्ति हूँ और पढ़ाने के लिए थोड़ा पढ़ना-सोचना भी पड़ता है। अपनी सोच को साफ़ करने के लिए कभी-कभी लिखने की भूल अवश्य की है। यह इसलिए कि मेरी बात की कड़ी आलोचना हो सके। मतभेद से बात स्पष्ट हो सकती है।"[4] आलोचना, आत्मालोचना, वाद-विवाद-संवाद को वे अनिवार्य मानते थे, क्योंकि आलोचना यानी वाद-विवाद-संवाद की प्रक्रिया से गुज़र कर ही विचारों का विकास होता है। आलोचना को लोग अच्छी चीज़ नहीं मानते। जहाँ सर्वत्र सहमति, ख़ामोशी, ख़ुशामदी, चापलूसी का माहौल व्याप्त हो, वहाँ आलोचना, वाद-विवाद-संवाद करने वाले व्यक्ति से लोग कन्नी काटते हैं। मदान जी की रचना-दृष्टि एवं जीवन-दृष्टि बिल्कुल साफ़ थी। उन्हें चाटुकारिता, चापलूसी, ख़ुशामदी सर्वथा नापसंद थी। उनके निबंधों में जहाँ आत्माभिव्यक्ति है, वहीं समाज की भी तीखी आलोचना है–"मुझमें न लेखक के गुण हैं न लक्षण, अगर

आज लेखक बनाया गया हूँ तो बैरंग लेखक कहा जा सकता हूँ। लोग मुझ पर सवाल उठाते हैं—"मैं साहित्यकार हूँ और यह साहित्यकार होकर भी खुद सब्ज़ी ख़रीदता है, खुद हाँडी पकाता है और खुद खा जाता है; यह लेखक होकर भी खुद फूल उगाता है और खुद उनको देखता और सूँघता रहता है। एक लेखक का असली काम तो लिखना और पढ़ना होता है। अब तो शायद आपको यह विश्वास हो गया होगा कि साहित्यकारों की पंक्ति में खड़ा होने का मेरा अधिकार नहीं है। मैं महामानव बनने के लिए अपनी मानवीयता को खोना नहीं चाहता हूँ।"[5]

इंद्रनाथ मदान अपने लेखक होने पर भी सवाल उठाते हैं और साथ ही लेखक जमात पर भी बहुत तीखी मर्मस्पर्शी टिप्पणियाँ भी कर जाते हैं कि वे लेखक (महामानव) होने की अपेक्षा साधारण मनुष्य बने रहना चाहते हैं, ताकि "अपनी मानवीयता, मनुष्यता को सुरक्षित रख सकूँ।" वे उस महामानव लेखक प्रजाति पर भी व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ करते हैं कि उनके पास लेखकों जैसा प्रभामंडल नहीं है। एक साधारण मनुष्य की हैसियत से ही उनकी सृजनशीलता निखरती चली गई। वे अपनी कमियों, सीमाओं, अंतर्विरोधों, विरोधाभासों से भी बख़ूबी परिचित थे, उनकी आत्मालोचना भी वे बराबर करते हैं; खुद पर रंदे, वसूले, हथौड़ों की चोट करते, ठोकते, पीटते खुद को दुरुस्त करते हुए—"मेरे पास निराला की तरह पुराने ढंग की नाव नहीं है। मैं जब हजामत बना कर, नहा-धो कर अपने को आइने में देखता हूँ तो इतना बुरा या बूढ़ा नहीं लगता। निराला के लिए यह सोचना इसलिए कठिन था कि न तो वे हजामत बनवाते थे और न ही अपने बाल काले करते थे। मुझे यह भी शक है कि उनके पास आइना था भी या नहीं, लेकिन उनके भीतर का आइना इतना साफ़ था कि वे अपने बारे में बेहतर अनुमान लगा लेते थे, इसीलिए वह अपनी कविता में स्नेह-निर्झर के बह जाने तथा रेत तन रह जाने की बात करते हैं। वह ज़िंदगी का सामना करते थे और मैं इससे भागने की कोशिश करता हूँ।"[6] इंद्रनाथ मदान अपने मध्यवर्गीय अंतर्विरोधों, छद्मताओं, विरोधाभासों को अच्छी तरह पहचानते थे कि कैसे मनुष्य ज़िंदगी के सच का सामना करने, ढलती उम्र के सौंदर्य को स्वीकारने से घबराता है और बुढ़ापे में भी पूरी चमक-दमक-धमक चाहता है। बालों को काला करना, चेहरे की ख़ूबसूरती के प्रति चिंतित होना क्या हमारी बूर्ज्वा रुचियाँ नहीं है? उनका आइना उन्हें बार-बार चेतावनी भी देता रहा कि अब ढलती उम्र में 'बालों का काला करना बंद कर दो', पतझड़ में बसंत के बारे में सोचना छोड़ दूँ, ज़िंदगी के यथार्थ का सामना करना शुरू करूँ, लेकिन आभिजात्य संस्कार या छद्म चेतना यह सब कहाँ करने देती है? मदान के ललित निबंधों में उनका संपूर्ण व्यक्तित्व अपने तमाम अंतर्विरोधों, विसंगतियों, विरोधाभासों, जटिलताओं, छद्मताओं के साथ उभरकर सामने आया है। इन निबंधों की ख़ूबसूरती यह है कि वे अपने

अंतर्विरोधों को कहीं छिपाते नहीं, वरन् पूरी निर्ममता के साथ आत्मालोचना करते दिखाई देते हैं। जो ज़िंदगी उन्होंने जी, जिस प्रकार जीवन जिया, उसे पाठकों के सामने सार्वजनिक कर दिया। एक ईमानदार लेखक अपने निज को पाठकों के समक्ष इस प्रकार सार्वजनिक कर सकता है, अपने अंतर्विरोधों, कमियों को इस प्रकार खोलकर एक खुली किताब की तरह प्रस्तुत कर सकता है तो वह है इंद्रनाथ मदान! आत्मपरक निबंधों में ख़ुद पर रंदे चलाते हुए, अपने भीतर के एक-एक रग-रेशे को छीलते, बाहर निकालते हुए, ख़ुद पर उल्टे रंदे चलाते हुए अपने को जिस प्रकार उधेड़ते, उघाड़ते, छीलते हैं वह उनकी आत्ममुग्धता नहीं, गहन् आत्मालोचनात्मक दृष्टि है।

इंद्रनाथ मदान के ललित निबंधों की मौलिकता, विशिष्टता, अद्वितीयता इस तथ्य में निहित है कि वे ख़ुद पर उल्टे रंदे, वसूले चलाना भी जानते थे। ख़ुद ही को छीलते हुए ताकि जहाँ भी कहीं गाँठ है, उसे सामने रखा जा सके। मध्य वर्ग की एक-एक विसंगति, विरोधाभास पर खुलकर विचार करते हुए। बात ख़ुद से शुरू करते हैं और पहुँचते कहीं अन्यत्र हैं। अपने निबंधों के बारे में उन्होंने सिर्फ़ इतना ही कहा है—"जब सुबह उठते ही शीशे में अपनी सूरत देखता हूँ तो बनाने वाले को कोसता हूँ। जब नहा-धोकर फिर शीशे की सहायता लेता हूँ तो इतना बुरा नहीं लगता जितना लोग समझते हैं। यही विचार इन निबंधों के बारे में है।"[7] उनके निबंधों को पढ़ना मानो एक पूरे सृजनशील ईमानदार व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में देखना, समझना और महसूसना है। जैसे पारदर्शी जल के तल में झाँक कर देखना हो। वहाँ जो भी कंकर, कचरा, धूल-कण होगा, वह भी अपनी पूरी पारदर्शिता के साथ प्रकट होगा। उनके ललित निबंधों की सबसे बड़ी देन यही है कि उनमें लेखक इतना विचारशील, तर्कशील, विवेचक-विश्लेषक नहीं होता। वह पाठकों के साथ भावात्मक संबंध स्थापित करते उसे अपने साथ बहाकर ले जाते हैं। क्या पाठक के लिए लेखक के 'निज' यानी व्यक्तिगत अनुभूतियों, जीवन अनुभवों, संघर्षों, जीवन-दृष्टि को समझना ज़रूरी नहीं होता?

आत्ममुग्धता को वे लेखक और व्यक्ति के लिए बहुत ही घातक मानते थे। पढ़ने-लिखने की संस्कृति का जहाँ इतना लोप होता जा रहा है, कि लोग पुस्तक संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं, वहीं मदान जी का यह कहना—"दुनिया की महफ़िलों से उकताकर अब चिंतन-मनन के नीड़ में जाने को जी चाहता है। पुस्तकों को खा-पीकर अब गाय की तरह जुगाली करने को मन होता है।"[8] आज जब बाज़ारवादी ताक़तें पुस्तकों के नाम पर कूड़ा-कचरा पूरी ताम-झाम के साथ प्रकाशित कर रही हैं तो पुस्तकों की दुनिया गुमराह करने वाली भी बनती जा रही है। विज्ञापनों, पुस्तक-समीक्षाओं, विमोचनों, उद्घाटनों, साहित्य-सभाओं, सम्मेलनों, पुस्तक-मेलों की

दुनिया को देखकर एक ईमानदार, संवेदनशील व्यक्ति का उकता जाना क्या अस्वाभाविक है? इसीलिए मदान का इनसे उकता जाना स्वाभाविक लगता है, "आज पुस्तकालयों में किताबों से ठसी अलमारियों को देखकर चकित होता हूँ, दूकानों में इनके सटे अंबारों से विस्मित होता हूँ, नित नए प्रकाशकों की भीड़ से घबराने लगता हूँ। इतना पढ़ते-पढ़ते थक गया हूँ, नित नए पथिक की तरह विश्राम चाहता हूँ।"[9] मदान यह भी स्वीकारते हैं कि "अधिक पढ़ने से संकुलता ही गहराई है, जटिलता ही बढ़ी है।"[10] बहुपठनीयता से जटिलता तो बढ़ती ही है, लेकिन किताबों को पढ़कर मनन करना, जुगाली करना, उन्हें पचाना भी ज़रूरी होता है। कई बार बहुपठनीयता अपच भी पैदा करती है। खाना यदि न पचे तो वह स्वास्थ्य के लिए ख़तरनाक भी सिद्ध होता है और यदि वह ठीक तरह से पचे तो वह ऊर्जा भी प्रदान करता है। पुस्तकों की दुनिया अब व्यवसाय बन रही है। यह संस्कृति का बाज़ार है और बाज़ारवाद की इस संस्कृति के अपने ख़तरे भी हैं। क्या मदान संस्कृति के इस बाज़ारवाद और बाज़ार की इस संस्कृति के ख़तरों की ओर संकेत नहीं कर रहे? बात सारी आत्मपरक, व्यक्तिपरक शैली में करते हैं, लेकिन उनके संकेत बहुत गहरे और व्यापक होते हैं। यहाँ आकर उनके ललित निबंध आत्मपरक नहीं रह जाते, वे पूरे युग, इतिहास के सवालों से टकराते, ज़माने से दो-दो हाथ करते दिखाई देते हैं।

सामाजिक निबंध

इंद्रनाथ मदान के ललित निबंध जहाँ उनके व्यक्तिगत जीवन से जुड़े हुए हैं, वहीं उनके निबंधों में गहरी सामाजिक चेतना, संवेदनशीतला भी दिखाई देती है। अपने समय और समाज की गहरी चिंताएँ उनके निबंधों में मौजूद हैं, व्यंग्य की पैनी धार के साथ। 'जन्मशतियाँ : एक धंधा', 'उपहार और पुरस्कार', 'बहानेबाज़ी', 'ख़ुशामद और ख़ुशामद', 'झूठ बोलने की कला', 'पड़ौसियों से', 'ऋण बनाम उधार' ऐसे निबंध हैं, जो निर्वैयक्तिक, सामाजिक हैं। आधुनिक युग की विसंगतियों, विकृतियों और विडंबनाओं को वे अपने निबंधों में बहुत ही सूक्ष्मता एवं कलात्मकता से अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। 'ख़ुशामद और ख़ुशामद' भी उनका एक ऐसा ही निबंध है, जिसमें वे ख़ुशामद, चापलूसी और चाटुकारिता के महीन अंतर को स्पष्ट करते हैं कि यह मनुष्य की अनादि प्रवृत्ति है जिसका उत्तरोत्तर विकास हो रहा है—"ख़ुशामद तरह-तरह की होती है। यह बहुत पुरानी कला है और इसका वास्तुशिल्प भी युग-बोध के साथ बदलता रहा है। देवी-देवताओं से लेकर राजा-रानियों तक, भूमिपतियों-पूँजीपतियों से लेकर मंत्रियों, अधिकारियों तक की ख़ुशामद के ढंग

अपने-अपने हैं, ख़ुशामद, चापलूसी और चाटुकारिता में इसलिए अंतर भी पाया जाता है। यदि चाटुकारी स्थूल है तो ख़ुशामद सूक्ष्म और चापलूसी कहीं इसके बीच की है। चाटुकारिता से चाटने की ध्वनि निकलती है, चाटा तो चाट या भात को जाता है, लेकिन चाटुकारी नहीं कहते। चाटुकार उसे कहना अधिक संगत होगा जो मानव-शरीर के किसी अंग को चाटकर दूसरों को गुदगुदाना या ख़ुशामद करना चाहता है। इस कला में जैसे-जैसे विकास होता गया है, वैसे-वैसे चाटुकार पहले चापलूस, फिर ख़ुशामदी बनता गया...इसे करवाना भी वह बेहतर जानता है।"[11]

आजकल के ज़माने में इस कला का अभूतपूर्व विकास हुआ है कि लोग इस कला में इतनी निपुण कला-संपन्न हो चुके हैं कि अपने कार्य, इच्छाओं को फलीभूत करने के लिए ख़ुशामद, चापलूसी, चाटुकारिता का बहुत ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरीक़ों से सहारा लेने लगे हैं। उन्नति पाने, आगे बढ़ने की चाह हो या दूसरों को पीछे धकेलने की कला इसमें ख़ुशामद की बहुत बड़ी भूमिका होती है। ख़ुशामद करने वाला अपने अधिकारी के मनोविज्ञान को बहुत अच्छी तरह से पढ़ लेता है कि उसकी कमज़ोरी क्या है। अपनी प्रशंसा, आत्ममुग्धता, व्यक्ति की सबसे बड़ी कमज़ोरी होती है। तोहफ़े, उपहार, भेंट देना रिश्वत का ही नया संस्करण कहा जा सकता है—"उसे यह मालूम है कि इलाहाबाद का अमरूद होता है (अकबर को वह नहीं जानता) आगरा की भुजिया (ताज में उसकी दिलचस्पी नहीं है) बनारस का लँगड़ा, लखनऊ का दशहरी आम (इस शहर की नफ़ासत की उसे पहचान नहीं), यह ज़रूरी नहीं कि चीज़ को उस शहर से ख़रीदा जाए, अपने शहर में भी इसे ख़रीदा जा सकता है, लेकिन डिब्बा, लिफ़ाफ़ा, टोकरी उस शहर की होनी चाहिए।"[12] आज धार्मिक पर्वों, जन्मदिन, नव वर्ष के अवसरों पर महँगे से महँगे उपहार लिए-दिए जाते हैं। धार्मिक पर्व हों अथवा व्यक्तिगत समारोह, उपहार-संस्कृति (रिश्वत) उसी का ही नवीनीकृत रूप है। प्रयोजन वहाँ भी अपना काम निकालना, उन्नति पाना, आगे बढ़ना, वफ़ादारियाँ निभाना एवं उच्च अधिकारी को प्रसन्न करना होता है।

ख़ुशामदी भी दो तरह के होते हैं। एक साधन संपन्न ख़ुशामदी और दूसरे साधना-संपन्न। संपन्न लोग भौतिक साधनों, महँगे उपहारों, कार, पैसे के बलबूते पर पार्टियों का आयोजन कर अपनी कार्य-सिद्धि करते हैं तो साधनहीन लोग मन की सच्ची लगन, निष्ठा, साधना द्वारा—"उस बेचारे के पास न तो बाहर जाने के लिए साधन हैं और न ही तोहफ़े ख़रीदने के लिए पैसा। उसे व्यक्तिगत परिश्रम से काम चलाना पड़ता है, बड़े आदमी के घर-परिवार का सदस्य बनना होता है, उनसे भतीजे-भानजे का नाता जोड़ना होता है। वह मौन भाव से सेवा करनी जानता है। वह स्टेशन या बस-स्टैंड तक लेने-छोड़ने जा सकता है, बिस्तर बाँध सकता है, घर या दरबार में रोज़ हाज़िरी लगवा सकता है, बीमार न पड़ने पर भी हाल-चाल

पूछ सकता है, बिना मिले उदास हो सकता है और मिलने का बहाना बना सकता है।"[13] मदान जी के पास मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग के मनोविज्ञान, उसकी वर्ग-दृष्टि, वर्ग-चेतना की गहरी समझ है कि कैसे यह वर्ग ख़ुशामद, चापलूसी, चाटुकारिता से ज़िंदगी की चूहा-दौड़ में शामिल है। साधन-संपन्न लोगों के पास ख़ुशामद करने के अलग ढंग है और निम्न मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि के लोग अपनी दास्य भक्ति, निष्ठा, साधना, समर्पण द्वारा यह काम करते हैं।

मध्य वर्ग, निम्न मध्य वर्ग के मनोविज्ञान से भी मदान बहुत गहराई तक परिचित थे कि यह वर्ग आत्मकेंद्रित, स्वार्थी, पद-लोलुप है। कामयाब होने के लिए प्रतिभा, योग्यता की नहीं, अपितु ख़ुशामद, चापलूसी की अधिक आवश्यकता है। कुछेक लोग अपनी निजी सेवाओं मसलन—दूध-फल-सब्ज़ी ख़रीदने से लेकर कुत्ते को सैर कराने तक, रोज़ाना घर-दरबार में अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराना, ख़रीदारी कराने तक इसमें अपना योगदान पाते हैं। कुछेक लोगों को तोहफ़े पाकर ख़ुशी मिलती है तो कुछेक को भरी सभा में अपनी प्रशंसा सुनकर—"वे लोग चाहते हैं कि उनकी ऐसी प्रशंसा लोगों के बीच हो। इसे वे बुरा भी नहीं मानते। अकेले में की गई प्रशंसा उन्हें फ़ीकी लगती है।...इनका यक़ीन तोहफ़े पाने में कम है तारीफ़ करवाने में अधिक। तोहफ़ा ख़ुशामद का ठोस स्थूल रूप है और तारीफ़ तरल, लेकिन आज तरलता ठोस पदार्थों के सामने हार भी रही है।"[14] निश्चित रूप से मदान जी के समय में एक मध्य वर्गीय नैतिकता थी जो तरलता से प्रसन्न होती थी, भौतिक वस्तुएँ, उपहार इतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते थे, लेकिन आज के इस नव पूँजीवादी, उपभोक्तावादी युग में तरलता, स्थूलता से पराजित होती जा रही है। उपहारों, धन-दौलत की चकाचौंध रिश्वत ने तरलता का भी गला घोंट दिया है। उस दौर की मध्यवर्गीय नैतिकता उपहारों, भौतिक पदार्थों की भर्त्सना करती थी, उसे अनैतिक मानती थी, लेकिन आज के इस उपभोक्तावादी दौर में तरलता ख़त्म हो गई है। मानवीय संबंध टूट रहे हैं। मध्यवर्गीय नैतिकता में भी एक बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई देने लगा है।

मदान जी इसे निश्चित रूप से मानते हैं कि ख़ुशामद कभी निष्काम नहीं होती, उसे चाहे कितना कलात्मक रूप क्यों न दिया जाए। यह कभी सिफ़ारिशी चिट्ठी लिखवाने के लिए है तो कभी नौकरी पाने के लिए, तो कभी रचना छपवाने के लिए, कभी एजेंसी हासिल करने के लिए तो कभी ठेका, कभी इश्क़ में कामयाब होने के लिए, तो कभी परीक्षा में।"[14] ख़ुशामद करने के महीन से महीन तरीक़े हैं। ऐसे अचूक तरीक़े, जिनके माध्यम से लोग उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ते जा रहे हैं। निबंध का अंतिम वक्तव्य तो मानो आँखें खोल देने वाली सच्चाई है—एक कवि के शब्दों में, "ख़ुशामद से उन्नति के सब रास्ते तो खुल जाते हैं, लेकिन उन्नति के

सिवा और सब बंद हो जाते हैं। इसलिए मैं ख़ुशामद करवाना नहीं चाहता। एक तो मेरी तरह किसी को वह करनी नहीं आती। मोटे और भौंडे तरीके से ख़ुश करने की कोशिश की जाती है, जिसे मैं चापलूसी कहता हूँ। चाटुकार का तो सवाल ही नहीं उठता।"[16] जिन लोगों की ज़िंदगी का सारा कार्य-व्यापार ही इसी चाटुकारिता, चापलूसी, ख़ुशामदी तथा पर-निंदा में बीत जाता है, वे लोग उन्नति की सीढ़ियाँ तो भले ही चढ़ते जाते हैं, लेकिन उन लोगों की कोई नैतिकता भी नहीं होती। अंतरात्मा को बेचकर या व्यक्तित्वहीन होकर ही यह सब पाया जाता है। लेकिन इस पाने में अपने संपूर्ण व्यक्तित्व , वजूद को खोना भी तो पड़ता है! जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'ईर्ष्या' कहा है, मदान जी उसे 'पर-निंदा' कहते हैं। ईर्ष्या इस पूँजीवादी युग की सबसे घृणित प्रवृत्ति है, जिसमें प्रतियोगिता नहीं, अपितु किसी की उन्नति, प्रगति को देखकर मानव-मन में जो विकार पैदा होता है, उसे पर-निंदा, ईर्ष्या कहते हैं। पर-निंदा में निंदक अपने विरोधी प्रतिद्वंद्वी की समस्त बुराइयाँ सुनता और सुनाता है। मदान इस पर-निंदा को बौद्धिक समाज की एक बहुत बड़ी विकृति के रूप में देखते हैं–"यह समझ नहीं आता कि भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र* में आठ रसों को तो गिनवाया गया है और वाद में नवाँ रस जोड़ दिया गया है, लेकिन निंदा रस क्यों छूट गया है, जबकि इसका भी अपना स्थाई भाव है। अगर शृंगार, करुण, शांत और हास्य रस का अपना-अपना स्थाई भाव है तो क्या हसद या जलन या निंदा रस का स्थाई भाव नहीं है, जो अधिक गहरे में है और जो अहं को अधिक संतोष देता है। इसी तरह यह भी समझ में नहीं आता कि अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत का निरूपण करते समय इसे क्यों छोड़ दिया है जबकि दूसरों की निंदा करने में इससे मनोविकार का अधिक विरेचन और अहं का अधिक विस्तार होता है। अगर शृंगार रस के संचारी भाव हैं तो क्या निंदा रस के संचारी भाव नहीं हैं? हसद या जलन किसमें नहीं होती? वह चाहे अमीर हो या ग़रीब, बच्चा हो या बूढ़ा, आदमी हो या औरत, सब एक-दूसरे से जलते हैं और दूसरों की निंदा करने में मज़ा लेते हैं और दूसरों की निंदा करने में जितना मज़ा है उतना कहने में नहीं।"[17]

इंद्रनाथ मदान आचार्य शुक्ल की ही तरह पर-निंदा को ईर्ष्या से उपजी मनोविकृति कहते हैं। जब हम दूसरों की उन्नति-प्रगति को देखते हैं तो उसे देखकर मन में जो ईर्ष्या पैदा होती है, पर-निंदा उसी से जुड़ा हुआ भाव ही तो है। यह पर-निंदा की कुप्रवृत्ति अपढ़, अनपढ़ लोगों में ही नहीं, अपितु समाज के सर्वाधिक शिक्षित समुदायों, बौद्धिकों में अधिक पाई जाती है। जहाँ भी बुद्धिजीवी लेखक लोग एकत्रित होंगे, वहाँ एक-दूसरे की इतनी आलोचना, असभ्य टिप्पणियाँ की जाती हैं कि देखकर आश्चर्य होता है कि यह समाज का सबसे उन्नत, सुसभ्य, संभ्रांत वर्ग है। ऐसी अभद्र, अशिष्ट टिप्पणियाँ एक-दूसरे के बीवी-बच्चों, नौकरों तक की जाती

हैं। इसी बात को लेकर मदान जी आश्चर्यचकित थे कि इसे भरतमुनि अपने *नाट्यशास्त्र* में तथा अरस्तू 'विरेचन सिद्धांत' में गिनाना क्यों भूल गए! कैसे भूल गए? किसी की प्रशंसा सुनने में कानों को जितनी तकलीफ़, कष्ट या पीड़ा की अनुभूति होती है, वहीं किसी की निंदा हो रही हो तो कान इतने सूक्ष्म हो उठते हैं कि मानो उनकी अंतरात्मा तृप्त हो रही हो। उन्हें जीवन-अमृत मिल गया हो। किसी की निंदा सुनने में जो आनंद की अनुभूति होती है क्या उसका उल्लेख भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र*, रस-निष्पत्ति में है? मनुष्य के भीतर एक-दूसरे के प्रति कितनी अधिक कटुता, ईर्ष्या, द्वेष, जलन, प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो चुकी है कि उस कटुता, ईर्ष्या, नफ़रत, कुढ़न, बेचैनी, भड़ास को हम कितनी कुलीन-मलीन भाषा में अभिव्यक्त करते हैं, जो निंदा रस में रूपातंरित हो उठती है। गाँवों-क़स्बों में यह कम होती है, नगरों-महानगरों में तो इसका ज़बर्दस्त विकास हो रहा है। कहीं ख़ुशामद, चाटुकारिता, चापलूसी का माहौल है तो कहीं पर-निंदा का। ख़ुशामद और पर-निंदा का एक-दूसरे से बहुत गहरा संबंध है। इसके अलग-अलग रूप हैं—एक दोस्त है जो भरे दरबार में ख़ुशामद इसलिए करवाना चाहता है कि अकेले में वह फीकी लगती है। इसे करने में लतीफ़े सुनने होते हैं, कहानियाँ गढ़नी पड़ती हैं और इस काम में कभी-कभी चुग़ली भी करनी पड़ती है। इनका यक़ीन तोहफ़ा पाने में कम है, तारीफ़ करवाने में अधिक।"[18]

दरअसल ख़ुशामद के अलग-अलग रूप हैं। इसमें एक ओर अधिकारी की जम कर प्रशंसा की जाती है तो दूसरी ओर विरोधियों की जम कर खिल्ली उड़ाई जाती है। दोनों का अपना-अपना अलग-अलग मज़ा है। जो व्यक्ति जितनी किसी की ख़ुशामद करने में माहिर होता है, उतना ही वह पर-निंदा में भी निपुण होता है। जहाँ तक निंदा, पर-निंदा का प्रश्न है, यदि व्यक्ति इससे परहेज़ करने लगे तो वह मन का बोझ बनने लगती है, जिसे उतारना जीने के लिए लाज़मी है। यह उसी तरह का है जिस प्रकार प्रेशर कुकर की भाप को अगर बाहर निकलने नहीं दिया जाता तो वह फट सकता है।"[19] मनुष्य इससे अपने मनोविकारों का विरेचन ही तो करता है, जिससे उसके अहं को भी तुष्टि मिलती है। दूसरे की निंदा करके, सुनकर उसे जो संतुष्टि-आनंद की अनुभूति होती है, उसे निंदा-रस कहा जा सकता है।

इसके अनेक रूपों का वर्णन करते हुए मदान जी लिखते हैं—"इसे कभी दूसरों को छोटा करने या दिखाने में किया जाता है तो कभी चुग़ली करने या खाने में। कभी यह किसी पर फ़ब्ती कसने का ढंग अपनाती है, तो कभी मज़ाक़ उड़ाने का। कभी वह किसी भी सूरत को लेकर की जाती है, तो कभी सीरत को लेकर। औरत और दौलत निंदा के आम विषय हैं। इन्हें निभाने के ढंग अलग-अलग हैं। इसी तरह निंदा का ढंग औरतों का अपना है, मर्दों का अपना, जवानों का अपना है, बूढ़ों का

अपना, शहरियों का अपना है, देहातियों का अपना, ग़रीबों का अपना है, अमीरों का अपना, साहित्यकारों का अपना है, दूकानदारों का अपना। निंदा करने के न केवल ढंग अलग-अलग हैं, चौपाल भी अलग-अलग हैं। गाँव में चौपाल कभी पेड़ की छाया के नीचे लगती है तो कभी धूप के चबूतरे पर। इस तरह शहर में कभी यह बैठक में लगती है तो कभी कॉफ़ी हाऊस में।"[20] निंदा-चुग़ली का धंधा सर्वत्र व्याप्त है। गाँवों की चौपालों, गली-मुहल्लों से लेकर कार्यालयों, कॉफ़ी-हाऊसों तक व्याप्त है। साहित्यकार लोग टी हाऊसों, कॉफ़ी-हाऊसों में बैठकर इस निंदा-रस का आनंद लेते दिखाई देते हैं। साहित्यकारों की चौपालें कॉफ़ी-हाऊसों में लगती हैं, जहाँ एक-दूसरे के बीवी-बच्चों के संबंधों पर विचार-विमर्श चलता है कि किस साहित्यकार की बीवी का संबंध किस साहित्यकार से है और इसे खुलापन कहा जाता है। विरोध करने वाले व्यक्ति को दकियानूसी ठहराया जाता है। जैसा-जैसा व्यक्ति का क़द-काठ, सामाजिक रुतबा होता है, उसकी ख़ुशामद करने वालों की तादाद भी वैसी ही होती है। इसके पीछे भी एक वर्ग-दृष्टि काम करती है। निम्न-वर्ग के लोगों की निंदा करने का ढंग अलग होगा और मध्य-वर्ग के लोगों की निंदा अधिक सूक्ष्म होती है। उच्च-वर्ग की संभ्रांत महिलाएँ-पुरुष क्लबों में एक-दूसरे का चरित्र-हनन करते दिखाई देते हैं—"क्लब में चौपाल रोशनी में नहीं लगती, अँधेरे में लगती है। यह मर्दों और औरतों की मिली-जुली होती है। यहाँ निंदा का अंदाज़ और बयान और तरह का होता है—मिसेज भाटिया का मिस्टर पंडित के यहाँ आना-जाना हद से बढ़ता जा रहा है। क्या तुमने नोटिस किया है? क्यों न बढ़े।"[21] उच्चवर्गीय लोगों की निंदा क्लबों में बैठकर एक-दूसरे का चरित्र-विश्लेषण करना, चरित्र-हनन करना होता है कि किस महिला के कितने पुरुषों के साथ संबंध हैं, और कौन पुरुष किन-किन महिला-मित्रों के अंग-संग रहता है।

इसलिए आज झूठ बोलना भी एक कला बनता जा रहा है। वह कल भी थी और आने वाले कल में भी रहेगी। आप जानते ही हैं कि कला वही होती है, जिसके स्वरूप शाश्वत हों। इस कला को सिद्ध करना भी उतना ही कठिन है, जितना किसी अन्य ललित कला में कुशलता पाना मुश्किल है। इसलिए झूठ बोलने को यदि छठी ललित कला का नाम दिया जाए तो अनुचित न होगा। मैं आपसे सहमत हूँ कि झूठ कलात्मक नहीं हो सकता, परंतु झूठ बोलना आदिकाल से ही कलात्मक रहा है। मैं आपको सत्यवादी और आस्तिक युधिष्ठिर का स्मरण कराता हूँ, जिन्हें झूठ बोलने के लिए कला का आश्रय तब लेना पड़ा था, जब महाभारत के युद्ध में अश्वत्थामा के मारे जाने का समाचार दिया था। उन्होंने वास्तविकता को छिपाने के लिए कला का काम लिया था। झूठ बोलने और वास्तविकता को छिपाने में विशेष अंतर नहीं होता। इसलिए झूठ बोलना एक कला है।"[22] झूठ वास्तव में बोला ही

इसलिए जाता है ताकि वास्तविकता को छिपाया जा सके। आज यही कला अपने चरमोत्कर्ष पर है। मदान जी ने इतिहास का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि सत्यवादी, धर्मपरायण, नैतिकतावादी युधिष्ठिर विरोधियों का मनोबल तोड़ने के लिए झूठ विद्या का सहारा ले सकते हैं तो आज के भौतिकतावादी-अवसरवादी जीवों की तो बात ही क्या! मदान जी के अनुसार—"इस कला के अनेक नाम और रूप हैं। इसको सिद्ध करने के लिए सब शक्तियों का संचय करना पड़ता है। इन शक्तियों में कल्पना-शक्ति, स्मरण-शक्ति और सृजन-शक्ति की विशेष रूप से गणना की जाती है। इनके समन्वित उपयोग से ही झूठ बोलने में कुशलता उपलब्ध होती है और काम में कुशलता पाने को गीता में योग की संज्ञा दी गई है। इसलिए योगी और प्रतिभासंपन्न व्यक्ति ही झूठ बोलने का जोख़िम उठा सकता है। यदि वह कल्पना-शक्ति से वंचित हैं तो वह बात बना ही नहीं सकता, यदि अभिव्यंजना-शक्ति का अभाव है तो बात बनाकर कह नहीं सकता और यदि उसकी स्मरण-शक्ति तीक्ष्ण है तो उसका झूठ पकड़ा जाएगा। यदि वह पकड़ा जाता है तो झूठ नहीं रह जाता।"[23]

झूठ में जहाँ अद्भुत कल्पना-शक्ति रहेगी, तभी वह अपनी कल्पना-विधायक-शक्ति से झूठ का तंत्र खड़ा करेगा और यदि अभिव्यंजना-शक्ति होगी तो बात बनाने, झूठ को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने की कला आ सकेगी और यदि 'स्मरण-शक्ति' भी है तो झूठ को प्रमाणित-अप्रमाणित करने का ख़तरा भी टल जाएगा, झूठ सच में बदल जाएगा। तभी महात्मा गाँधी जी ने कहा था कि 'सत्य को बोलने के लिए स्मरण-शक्ति की ज़रूरत नहीं होती, जबकि झूठ बोलने वाला व्यक्ति स्मरण-शक्ति का मालिक होता है। उसे स्मरण-शक्ति, बुद्धि को एकाग्रचित करना पड़ता है कि कहीं उसका झूठ का रचा तंत्र छिन्न-भिन्न न हो जाए।' इसीलिए सत्यवादी व्यक्ति को अधिक प्रमाण जुटाने, भाषा का मक्कड़-जाल बुनने, घुमा-फिरा कर बात कहने की आवश्यकता ही नहीं होती। वह दो-टूक बात कहने वाला स्पष्टवादी व्यक्ति होता है, जबकि झूठ बोलने वाला व्यक्ति भाषा और छल विद्याओं, ठग विद्याओं, कलाओं का ऐसा तंत्र खड़ा करता है कि किसी के हाथ में न आ सके। उसका मायावी तंत्र पकड़ में न आ सके। इंद्रनाथ मदान छद्म और यथार्थ के अंतर को भी पहचानते हैं कि कैसे आज छद्म को यथार्थ में बदल कर तथा यथार्थ को विकृत कर पेश किया जा सकता है।

यह झूठ की कला है कि झूठ को सच में बदल दो और वह इतना सच प्रतीत हो कि सच-झूठ में बदल जाए। क्या मीडिया, सत्ता और बुद्धिजीवी आज यही कुछ नहीं कर रहे? यह झूठ बोलने की कला है, जिसे मदान ने तीन श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया है—"शुद्ध झूठ, अशुद्ध झूठ और मिश्रित झूठ। इन तीन रूपों का संशोधन

एवं परिष्कार भी हो सकता है। झूठ का एक अत्यंत परिष्कृत रूप है जिसमें वास्तविकता का नितांत अभाव हो। इसे सफ़ेद झूठ का नाम दिया जाता है। मिश्रित झूठ में शुद्ध झूठ और अशुद्ध झूठ का मिश्रण होता है, जिसमें सच झूठ लगता है और झूठ का आभास देता है। कालिदास या शेक्सपियर के नाटकों में समन्वित जीवन का चित्रण मिश्रित झूठ है।"[24] साथ ही इस "झूठ को बोलने के लिए अनुभव संपन्न और समन्वयशील प्रतिभा की अपेक्षा होती है। आधुनिक युग में मिश्रित झूठ बोलने की कला का ह्रास हो रहा है तथा अशुद्ध झूठ बोलने की कला का विकास हो रहा है।"[25] झूठ को पैदा करने वाली, उसे मज़बूती प्रदान करने वाली "अनेक मनोवैज्ञानिक वृत्तियाँ तथा सामाजिक शक्तियाँ हैं। इसमें अहं की तुष्टि, स्वार्थ की सिद्धि, आत्मरक्षा की भावना, हीनता की गाँठ, समाज का भय, यश की कामना आदि की गणना की जाती है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक झूठ बोलने की अनेक शैलियाँ हैं।...जीवन में जितनी माया लुभाने वाली, कला में उतना झूठ बोलना 'लुभाने वाला' होता है।"[26] "झूठ बोलना एक कला भले ही हो, लेकिन सच्चाई को झूठ, छल, छद्म से पराजित नहीं किया जा सकता। यह भी सही है कि आज छल-छद्म विद्याओं, ठग विद्याओं का अभूतपूर्व विकास हो रहा है, सच का गला भी दबाया जा रहा है, लेकिन बकरे की माँ कब तक ख़ैर मना सकती है? युधिष्ठिर ने भी 'महाभारत' में अश्वत्थामा के मारे जाने का झूठा समाचार दिया था, वास्तविकता को छिपाने के लिए झूठ विजयी हो ऐसा संभव नहीं है। इतिहास ने युधिष्ठिर की धार्मिकता, धर्मज्ञता, नैतिकता, सत्यवादिता पर प्रश्न-चिह्न तो लगा ही दिया है।

मदान जी के ललित निबंधों में उनके गहन चिंतन, जीवन-दर्शन का आभास तो मिलता ही है कि उनके पास ज़िंदगी के यथार्थ की कितनी गहरी एवं मज़बूत पकड़ थी, तभी वे इतने सशक्त निबंधों की रचना कर सके।

इंद्रनाथ मदान और उनका समाज

इंद्रनाथ मदान के निबंधों में उस समय का साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक परिदृश्य अपने समग्र यथार्थ में प्रतिबिंबित हुआ है। उनके निबंधों में उनकी गहरी साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक चिंताएँ अपनी गहरी संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्ति पाती हैं। साहित्य की दुनिया की उन तमाम छद्मताओं, छलनाओं, पाखंडों, गतिविधियों को वे बहुत ही सूक्ष्म खुर्दबीन जैसी दृष्टि से पहचानते थे कि साहित्य अब साधना की नहीं, खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने, लूटने-लुटाने की वस्तु बनकर रह गया है। साहित्य और सत्ता-संस्थानों के पारस्परिक संबंधों को भी उन्होंने

उठाया है कि कैसे आधुनिक युग में साहित्य और सत्ता के रिश्तों में बदलाव आया है, जो बेहद घातक सिद्ध हो रहा है—"आधुनिक युग में एक नया धंधा, जो बड़े पैमाने पर हो रहा है, वह है राजनीति का धंधा। राजनीति धंधे के नक्कारख़ाने में साहित्यकार की तूती तो कौन सुनता है। उसने जन्म-शताब्दियाँ मनाने का धंधा शुरू कर दिया है। कभी किसी की पाँचवीं जन्मशती मनाई जा रही है तो कभी चौथी, तीसरी, दूसरी और कभी पहली। सबसे पहले भगवान् बुद्ध की 25वीं जन्मशती का अवसर मिला था, लेकिन इसमें साहित्यकार की गुंजाइश कम थी। रवींद्रनाथ ठाकुर से लेकर शरतचंद्र की पहली जन्मशती तक लेखकों-आलोचकों को थोड़ा-बहुत धंधा करने का अवसर अवश्य मिला, लेकिन यह उसकी बढ़ती लालसा को शांत न कर सका। तुलसी सूर की जन्मशतियों ने उसे अपनी करामात दिखाने का बेहतर मौक़ा दिया...आज से दो साल पहले अनेक जन्मशतियों की भरमार लग गई तो कुमार विकल के कवि को इतना गुस्सा आया कि उसने ये पंक्तियाँ लिख डालीं—*आज मेरे देश के संभ्रात लोग/गुरुओं, महात्माओं की जन्मशताब्दियाँ/मनाने के धंधे में लग रहे हैं/मैं एक अदना आदमी/भूख का पर्व/मनाने के लिए/अपने वक़्त की सबसे भद्दी गाली/ईज़ाद करने में व्यस्त हूँ। इसके बावजूद यह धंधा जारी है।*[27]

मदान जी के समय से ही जन्मशताब्दियाँ, पुरस्कार, उद्घाटन-विमोचन-समारोहों का राजनीतिक धंधा इतना प्रचलित हो गया था कि कुमार विकल जैसे कवि ने अपने वक़्त की सबसे भद्दी गाली इन्हीं संभ्रांत भद्र जनों को दी थी, जो साहित्य को धंधा बना रहे थे। कवि, साहित्यकार, लेखक, आलोचक, बुद्धिजीवी सभी इस प्रक्रिया में शामिल हैं। यह साहित्य, कला और संस्कृति का एक नया बाज़ार है और बाज़ार की संस्कृति है। बाज़ार की इस संस्कृति या संस्कृति के इस बाज़ार में लेखक, कलाकार, संस्कृतिकर्मी सभी इस धंधे में जुटे हुए हैं। मदान यह भी प्रश्न उठाते हैं कि यदि राजनीतिज्ञों, धर्माचार्यों, महात्माओं की जन्म शताब्दियाँ आयोजित की जा सकती हैं तो साहित्यकार, चिंतक इससे वंचित क्यों रहें? हम अपनी परंपरा, संस्कृति को उपेक्षित क्यों होने दें?

इंद्रनाथ मदान ने इसे धंधा इसलिए कहा है क्योंकि वहाँ साहित्यकारों की पूजा-अर्चना-आराधना अधिक होती है, साहित्य पर बात कम। जीते जी घनघोर तिरस्कार, फटकार और मरणोपरांत, श्रद्धांजलियाँ, प्रशस्तियाँ एवं पुरस्कार! मदान जी इन पाखंडों, छद्मताओं, छलनाओं के सख़्त खिलाफ़ थे। इसीलिए उन्हें ये जन्म-शताब्दियाँ, सम्मान-समारोह किसी धंधे से अधिक नहीं दिखते, जिनके पीछे खाने-कमाने, लूटने-लुटाने, ओढ़ने-बिछाने, पीने-पिलाने की भोगवादी मानसिकता ही काम करती है। प्रेमचंद-शती, अज्ञेय-शती मनाने की जो प्रक्रिया शुरू हो चुकी है, उसमें इन साहित्यकारों के रचनात्मक संघर्ष, आत्म संघर्ष को कितना रेखांकित, उद्घाटित किया जाता है और

लेखक, आलोचक आत्मोद्घाटन अधिक करते दिखाई देते हैं कि मैंने सर्वप्रथम इसे लेखक बनाया, उसको स्थापित करने का बीड़ा उठाया। मुझसे पूर्व इसे साहित्यकार ही कौन मानता था! आलोचक अक्सर इस प्रकार के दंभपूर्ण, पाखंडपूर्ण विचार सार्वजनिक मंचों पर देते दिखाई देते हैं। इन सम्मेलनों, समारोहों में उसके नाम की राजनीति अवश्य कर ली जाती है। एकाएक आयोजक उनके सच्चे उत्तराधिकारी बनने लगते हैं। यही कारण है कि आज कोई प्रेमचंद का झंडा बुलंद कर रहा है, कोई अज्ञेय का, कोई निराला का तो कोई भगत सिंह का। ऐसे आयोजन राजनीतिक धंधे के अतिरिक्त और क्या अर्थ रखते हैं? मदान जी ने ऐसे लोगों की तीखी आलोचना की है, क्योंकि ऐसे लोगों का काम साहित्य के नाम पर राजनीति करना होता है। उनका कहना है—"आलोचक के पास अपनी पूँजी नहीं होती, उसे महान् साहित्यकारों की पूँजी पर जीना होता है। इसलिए साहित्य के बाज़ार को गर्म रखने के लिए इस साल प्रेमचंद पर विशेष समारोह हो रहे हैं, पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक निकाले जा रहे हैं। पुस्तकों के विशेष संकलनों का संपादन हो रहा है। शायद कुछ ख़ास नुमायशों के आयोजन भी हों।"[28]

सही अर्थों में साहित्य-जगत् की इस उत्सवधर्मी दृष्टि से साहित्य का भला कम नुक़सान अधिक किया जा रहा है। एक ऐसा संघर्षशील लेखक जो अभावों, कष्टों, संघर्षों में जिया और मरा, उसकी जन्मशती या निधनशती को एक उत्सव, पर्व की तरह धूमधाम से मनाकर, खा-पीकर, पुरस्कृत होकर उसकी राजनीति नहीं की जा रही तो और क्या किया जा रहा है? इसीलिए इस देश के संभ्रांत, प्रबुद्ध, सुसभ्य वर्ग पर कुमार विकल ने ऐसी कविता लिखी थी जो साहित्यकारों की जन्मशतियों का पर्व मनाकर उनका धंधा ही कर रहे हैं। मदान जी का तो यहाँ तक कहना है कि हिंदी के लेखकों में पहले साधना, निष्ठा, गंभीरता थी, साधन नहीं थे। बहुत कष्टों, संघर्षों की प्रक्रिया में ऐसे साहित्य का सृजन हुआ है। निराला, प्रेमचंद, मुक्तिबोध, कुमार विकल इसके प्रमाण हैं। आज तमाम साधन हैं, सुख सुविधाएँ हैं, लेकिन ज़िंदगी में संघर्ष, आत्मसंघर्ष, साधना, निष्ठा, गंभीरता ही ग़ायब है। उपभोक्तावादी समाज पर इससे तीखी आलोचनात्मक टिप्पणी और क्या हो सकती है! सही अर्थों में आज का बौद्धिक समाज सुविधाजीवी, उपभोक्तावादी बनता जा रहा है। सुविधाजीविता ने उसकी सृजनशीलता, रचनात्मकता, बौद्धिक प्रतिभा एवं प्रतिरोधी चेतना को भोंथरा बना दिया है।

आज के साहित्यकारों, बौद्धिकों, आलोचकों में वह आग, बेचैनी, तड़प, संघर्षशीलता, दीप्ति, चमक, ओजस्विता, प्रखरता, विवेक-चेतना, दायित्व-बोध दिखाई नहीं पड़ता तो इसलिए क्योंकि आज साधन हैं, बेशुमार सुख-सुविधाएँ हैं, लेकिन साधना अनुपस्थित है। यह केवल मदान जी के समय का ही सच नहीं, वरन्

इक्कीसवीं सदी का भी भयावह सच है। एक दृष्टि-संपन्न संवेदनशील आलोचक, निबंधकार ही यह कहने का साहस कर सकता है। सुविधाजीवी आलोचक ऐसे मर्मस्पर्शी वाक्य नहीं लिख सकते। जब तक लेखकों, बुद्धिजीवियों में जीवन-संघर्ष, आत्म-संघर्ष, आत्मावलोकन की सतत् विवेकशील जीवन-दृष्टि रहती है, वह जन संवेदनाओं से जुड़ता है तो उसकी क़लम में उतनी ही धार बनी रहती है। जैसे ही वह सुविधाजीवी, आत्मग्रस्त, अलगावग्रस्त होता है, जनसंवेदनाओं को अंगीकार नहीं करता, उसकी क़लम की पकड़ भी उतनी ही ढीली, शिथिल होने लगती है। जब तक लेखकों, बौद्धिकों में यह दृष्टि थी, तब तक उनके लेखन में जीवन के बड़े प्रश्न उपस्थित होते थे। आज के लेखन में जो संवेदनहीनता, संवादहीनता, विचारशून्यता दिखाई दे रही है, उसके पीछे क्या यही कारण नहीं है कि आज हमारे पास ज़िंदगी की तमाम सुख-सुविधाएँ हैं, साधन हैं, लेकिन वह निष्ठा, विवेक, साधना, श्रम करने की शक्ति नहीं है। निश्चित रूप से भौतिक लालसाओं, साधनों ने हमारी साधना (चेतना) को ही नष्ट कर दिया है। हम ज़रूरत से ज़्यादा सुविधाजीवी, आत्मकेंद्रित, स्वार्थी, आलसी, निकम्मे, कामचोर होते जा रहे हैं।

मदान जी के निबंधों में जीवन का गहरा बोध है। वे भी ख़ुद को साहित्यकार नहीं कहलाना चाहते—"मैं सच कहता हूँ कि मैं लेखक नहीं हूँ और मैं यह विनय भाव से नहीं, अहंभाव से कह रहा हूँ। अगर पंजाब सरकार को मेरे साहित्यकार होने का वहम हो गया है तो मैं इसका दोषी नहीं हूँ। मैंने कभी भी लेखक बनने का अपराध नहीं किया है। यह हो सकता है कि मेरा अभिनंदन एक असफल लेखक के नाते किया गया हो। प्रेमचंद ने ठीक ही कहा था कि असफल लेखक ही आलोचक बन जाता है। इसके साथ अगर यह जोड़ दिया जाए कि असफल व्यक्ति ही दूसरों की आलोचना और निंदा करने लगता है तो अनुचित न होगा।"[29] डॉ. मदान हमेशा ही एक बेबाक आलोचक की तरह आलोचना करते हैं, दूसरों की और ख़ुद की भी। जो ख़ुद की आलोचना यानी आत्मालोचना कर सकता है, जो इतना अधिक पढ़-लिखकर भी लेखक होने का भ्रम नहीं पालना चाहता और जो अभिनंदन, साहित्यिक सम्मान तक की इच्छा नहीं रखता, उन जैसे लोग आज कितने हैं इस ज़माने में? लेखक, साहित्यकार, आलोचक, राजनेता सभी इस चूहा दौड़ में शामिल हैं कि कैसे अपने पर साहित्यिक गोष्ठियाँ, सेमिनार आयोजित किए जाएँ, जिससे वे बड़े साहित्यकार बन सकें। लेखक बनने-बनाने का आजकल एक नया रिवाज चल पड़ा है—"आजकल अपना अभिनंदन करवाने का रिवाज उसी तरह ज़ोर पकड़ रहा है, जिस तरह अपनी नई किताब पर विचार-गोष्ठी करवाने का। मुझे बताया गया कि राजधानी में कुछ लोगों ने यह धंधा अपना लिया है। वह लेखक से पूछ लेते हैं कि कितने की गोष्ठी करवानी है। इसके मुताबिक़ वह जगह, जल-पान,

निमंत्रण-पत्र छपवाने का इंतज़ाम कर देते हैं। यहाँ तक कि किताब पर लेख भी लिखवा लेते हैं।"[30]

यह काम अब देश की राजधानी में ही नहीं, अपितु पूरे देश में पूरी ताम-झाम के साथ होने लगा है। साहित्यकार ख़ुद ही पैसा ख़र्च करके पुस्तकें प्रकाशित करवाते हैं, फिर गोष्ठी आयोजकों, संयोजकों से मिलते-जुलते हैं। रविवार को जैसे-तैसे लोगों को खिलाने-पिलाने के बहाने एकत्रित करते हैं। किसी आलोचक से अपने पर लेख लिखवाकर अपना अभिनंदन करवाते हैं। पुस्तक-मेलों से लेकर लोकार्पण समारोहों तक, गोष्ठियों, सेमिनारों, साहित्य-सभाओं और क्लबों तक यह प्रक्रिया जारी है। डॉ. मदान अपने निबंधों में ऐसे लोगों की अच्छी-ख़ासी आलोचना करते हैं कि कैसे आज सरकारी, ग़ैर-सरकारी, अर्द्ध-सरकारी पुरस्कार हथियाए, ख़रीदे जा रहे हैं। क्या इससे साहित्य और आलोचना का भला होगा? सम्मान, पद, पुरस्कार, लेखक को मिलने चाहिए, लेकिन आज देश-भर में सम्मानों, पुरस्कारों को पाने की जो होड़ मची है, उसे देखकर तो यही कहा जा सकता है कि पुरस्कारों, सम्मानों को बंद कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि वे अपनी सार्थकता खोते जा रहे हैं। ये घटनाएँ आम पाठक से लेकर संवेदनशील प्रबुद्ध आलोचकों की संवेदना को मथती हैं कि कैसे आज पुरस्कारों, पदों का क्रय-विक्रय होने लगा है—"मुझे सब भाषाओं का तो पता नहीं, लेकिन हिंदी के बारे में इतना जानता हूँ कि इन दिनों पुरस्कार अक्सर हथियाए जा रहे हैं। इनकी न केवल तादाद बढ़ रही है, रक़म भी बढ़ रही है। ज़माना महँगाई का है। पुरस्कार सरकारी भी होते हैं और गैर-सरकारी भी। यह नई बात भी नहीं है। हर युग में सत्ता लेखकों और कलाकारों को ख़रीदती रही है और वे बिकते रहे हैं। कभी अपनी हुकूमत को क़ायम रखने के लिए, कभी सामाजिक विधान को सुरक्षित रखने के लिए। कालिदास को राज-पाट मिला था और बिहारी को एक-एक दोहे पर एक-एक अशरफ़ी मिली थी। उन दिनों सोना सस्ता था। आजकल चेक का रिवाज है। सरकारों और सेठों के अपने-अपने ढंग हैं। पुरस्कार पाने वाला अपनी विजय पर इसलिए खुश है कि उस पर सेठ ने उसके साहित्यकार होने की अपनी मोहर लगा दी है और हुकूमत ने उस पर सरकारी टिकट पर गोंद पतली है, उतर जाने वाली है।"[31]

साहित्यकार और सत्ता के संबंधों पर डॉ. मदान ने अच्छी रोशनी डाली है कि कैसे सदियों से ही साहित्यकार और सत्ता के परस्पर गहरे संबंध रहे हैं। उसमें समय-समय पर बदलाव भी आता रहा है। साहित्य, कला और संस्कृति का बहुत गहरा संबंध सत्ता के साथ रहा है। प्राचीन काल से भारत में यदि साहित्य, कला और संस्कृति राज्याश्रित रही है तो इसमें उसका विकास भी हुआ है। ऐसा नहीं है कि इनमें परस्पर विरोध के ही संबंध रहे हैं। यह भी तो कोई ज़रूरी नहीं कि जिस

लेखक, साहित्यकार, आलोचक को कोई बड़ा सरकारी, अर्द्ध-सरकारी, ग़ैर-सरकारी पुरस्कार, पद, सम्मान मिल जाए तो वह सत्ता का वफ़ादार प्राणी या बिकाऊ व्यक्ति बन जाता है? बहुत-से ऐसे लेखक हैं जो पुरस्कार पाकर भी अपनी अंतरात्मा की आवाज़ को जीवित रखते हैं। बिकते नहीं। कोई समझौते नहीं करते। क्या ऐसे लेखकों को भी हम सत्ता-समर्थक, पालतू, बिकाऊ मनोवृत्ति के लेखक कहेंगे? मदान ऐसे लेखकों का भी उद्धरण देते हैं जो सत्ता से अपनी दूरी बनाए रहते हैं—"कुछ लेखक ऐसे भी निकल आते हैं, जो पुरस्कार पाकर भी सरकार या सेठ के वफ़ादार नहीं रहते। पहाड़ी मीत किसके, भात खाया खिसके। यह मुहावरा मुझे जँचता नहीं है। असल में पहाड़ी को पैदल चलकर घर पहुँचना होता है। इसी तरह इन लेखकों के लिए वफ़ादारी का सवाल गौण है, चैक मुख्य होता है। पुरस्कार न पाने वाले को यह तसल्ली हो सकती है कि एक दिन ज़माना उनकी रचनाओं को अवश्य पहचानेगा, यह चाहे अगले जन्म में क्यों न हो। कवि भी दो तरह के होते हैं पंत पुरस्कृत कवि हैं और निराला केवल कवि।"[32] मदान का यह कहना बहुत सार्थक प्रतीत होता है कि यह कोई ज़रूरी तो नहीं कि प्रत्येक पुरस्कृत व्यक्ति बिकाऊ, सत्ताधर्मी होता है? क्या यह ज़रूरी है कि सत्ता अथवा किसी संस्था द्वारा सम्मानित पुरस्कृत लेखक उसके प्रति वफ़ादारी ही निभाए? साहित्यकार लोग फक्कड़ होते हैं, जिनके बारे में मदान जी ने सही कहा है—'पहाड़ी मीत किसके भात खाया खिसके'।

पुरस्कृत होना एक अच्छी चीज़ है कि सत्ता के किसी संस्थान ने उसके साहित्यिक योगदान, जीवन-संघर्ष को देखकर उसे सम्मानित, पुरस्कृत किया। लोकतंत्र में तो जो संस्थान हैं, भाषा विभाग, साहित्य अकादमियाँ क्या उनसे जुड़ने वाला प्रत्येक लेखक जो पुरस्कृत होता है, वह राजसत्ता का वफ़ादार बन गया और शेष लोग सत्ता विरोधी! देखने में अक्सर यह भी आता है कि पुरस्कृत लोगों की चेतना कहीं अधिक सत्ता विरोधी होती है। सच्चे लेखक तो वही होते हैं जो अपनी चेतना, दीप्ति, आग, प्रखरता को क़ायम रखते हुए ज़माने से दो-चार होते हैं। यह बात भी सही है कि सत्ता-लेखकों, कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों को संरक्षण देती है, उन्हें सम्मानित, पुरस्कृत भी करती है, लेकिन यह भी कोई ज़रूरी तो नहीं कि पुरस्कृत, सम्मानित होकर वह अपनी क़लम की धार को नष्ट कर दे। कालिदास को यदि अपने समय में राजपाट, राजकीय मान-सम्मान प्राप्त हुआ था तो क्या कालिदास की रचनात्मक प्रतिभा कमज़ोर पड़ गई थी? क्या वे सत्ता-समर्थक लेखक थे? यह ज़रूरी नहीं है कि सत्ता और लेखक के संबंध परस्पर सहमति, समझौते या समर्पणमूलक वफ़ादारी निभाने वाले ही रहें?

यह सब लेखक की जीवन-दृष्टि पर निर्भर करता है कि वह अपने लेखन को इन संबंधों से कैसे मुक्त रख सकता है। क्या ऐसा संभव है? मदान जी इसका कोई

उत्तर तो नहीं देते, लेकिन 'पहाड़ी मीत किसके, भात खाया खिसके' कहकर उन्होंने इसकी ओर संकेत तो कर ही दिया है। देखने वाली महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लेखक स्वयं को इन रचनाघाती चीज़ों से कैसे बचा सकता है और कब तक? साथ में उन्होंने पुरस्कृत कवि पंत और निराला केवल कवि कहकर उस अंतर को भी स्पष्ट कर दिया है कि सत्ता किनको सम्मानित-पुरस्कृत करती है और क्यों? क्या निराला का साहित्यिक क़द पंत से छोटा है? पंत पुरस्कृत हुए तो क्यों? निराला नहीं हुए तो क्यों? सत्ता किन लेखकों को पुरस्कृत करती है? क्या वहाँ सत्ता-विरोधी लोग पुरस्कृत नहीं होते? इन प्रश्नों के आलोक में लेखक एवं सत्ता के रिश्तों को भी समझा जा सकता है। सत्ता-संस्कृति और संस्कृतिकर्मी एक ऐसा ही मुद्दा है, जिस पर पुनर्विचार करने की ज़रूरत है। मदान जी इन प्रश्नों से दो-चार होते हैं, लेकिन प्रश्नों को उठाकर वे इसे पाठकों के लिए पुनर्विचार के लिए छोड़ देते हैं। उनके उठाए हुए प्रश्नों पर हमें पुनर्विचार करना है जो अनुत्तरित हैं। यही बात वे सम्मेलनों को लेकर उठाते हैं—"इन दिनों अभिनंदन अखिल भारतीय स्तर पर होने लगे हैं, बड़े पैमाने पर। क्यों न हों? यह उसी तरह जैसे सब आयोजन और सम्मेलन या तो विश्व-स्तर पर या शिखर के स्तर पर...अनुवादकों का शिखर सम्मेलन, आशुलिपिकों का शिखर सम्मेलन, गुट निरपेक्ष देशों का शिखर सम्मेलन, विश्व तमिल सम्मेलन, पंजाबी विश्व सम्मेलन, हिंदी विश्व सम्मेलन। हरेक शिखर पर बैठना चाहता है नीचे उतरना अपना अपमान समझता है। हवा में उड़ने का जो मज़ा है, वह धरती पर चलने में नहीं है। अब ज़रूरत साक्षात्कार विश्व सम्मेलन की है। यह साहित्य की नई विधा है, साक्षात्कार लेना और देना कम सृजनात्मक नहीं है। रेडियो, टी.वी. और पत्र-पत्रिकाओं में इनकी भरमार है। इसमें हिंग लगे न फिटकरी, रंग चोखा होय।"[33]

मदान जी के निबंधों में व्यंग्य की धार बहुत पैनी है। वे जहाँ बदलते हुए समय में साहित्य और साहित्यकार की भूमिका पर विचार करते हैं, वहीं सत्ता-संस्थानों और लेखकों के बदलते संबंधों पर भी व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ करते चलते हैं कि यह बाज़ारवाद का दौर है और बाज़ार की कोई नैतिकता नहीं होती। बाज़ारीकरण की इस संस्कृति पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं—"पूँजीवादी युग नए-से-नए धंधों का है, जहाँ हर चीज़ बिकती है। इस मंडी संस्कृति या हाट संस्कृति के युग में पैसे का बोलबाला है और लेखक मानव-मूल्यों की बात करने से बाज़ नहीं आता।"[34] इस पूँजीवादी युग में जब सब कुछ बाज़ार केंद्रित है, उसका क्रय-विक्रय है, हर चीज़ एक वस्तु है, उसका क्रय-विक्रय होता है तो साहित्यकार उससे कैसे बचा रह सकता है? इस नई चुनौती से भी उसे दो-चार होना है। नैतिकता, मूल्य-आदर्श, सिद्धांत, लेखन क्या इससे अप्रभावी रह सकता है? हमें उनके नए विकल्प भी तलाशने होंगे। मदान जी की विचारधारा पर मार्क्सवाद का कहाँ-कहाँ कितना प्रभाव है, इसे भी

साफ़ पहचाना जा सकता है। भले ही वे इन वादों, बाड़ों, भेड़ों की वास्तविकता से परिचित थे, लेकिन इसे वे अपनी दृष्टि पर आरोपित या हावी भी नहीं होने देते। एक अच्छा आलोचक-लेखक वहीं होता है जो किसी विचारधारा विशेष से अनुशासित या नियंत्रित न हो। इन चीज़ों से वे ख़ुद को कितना बचा सके, यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है जिस पर यथास्थान सविस्तार चर्चा होगी कि बाड़ों की आलोचना करने वाला व्यक्ति कहीं अपने भीतर किसी बाड़ेबंदी का शिकार तो नहीं हो रहा?

मदान जी इसी समस्या पर विचार करते हुए लिखते हैं कि आजकल साहित्य में भी मोर्चों, संगठनों का रिवाज चल पड़ा है। यदि राजनीति में विभिन्न दल और संगठन हो सकते हैं तो साहित्य में क्यों न हों? "यह संगठन का युग है। अगर मज़दूर और राजनीतिक दल अपना संगठन कर रहे हैं तो बेचारे लेखक और अनुवादक क्यों न करें? अपना-अपना मोर्चा लगाना अपना एक तरह का धंधा बनता जा रहा है। मुझे बताया गया है कि बड़े-बड़े शहरों में यह ख़ूब पनप रहा है। इसकी दूकानें खुल चुकी हैं। अगर मज़हब की दूकानें चलती रही हैं तो मोर्चों की क्यों नहीं चल सकतीं? मोर्चों की दूकानों पर हर चीज़ आसानी से मिल जाती हैं—खटिया, पत्थरों की बोरियाँ, टूटी-फूटी चप्पलें और इनका इस्तेमाल करने वाले आदमी।"[35] मदान जी की निबंध-कला जीवन के सत्यों से जुड़कर जिस तरह विस्तार पाती है कि उन्हें लेखक-संगठनों, लेखक-मोर्चों, दलों में राजनीतिक गंध दिखाई पड़ती है कि कौन-सा लेखक किस दल, ग्रुप, विचारधारा या संगठन से जुड़ा है? कोई प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ा है तो कोई जनवादी लेखक संघ से। जितनी राजनीतिक पार्टियाँ हैं उससे कहीं अधिक लेखकों के संगठन, मोर्चे! इन दलों, संगठनों, मोर्चों से लेखक, साहित्यकार ही नहीं, आलोचक, बड़े-बड़े संस्कृतिकर्मी भी जुड़े रहे हैं। इन संगठनों, संघों से जुड़ने का अभिप्राय अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाना, प्रतिष्ठित स्थापित होना भी रहा है। मदान यह सवाल उठाते हैं कि लेखक संघों का उद्देश्य व्यापक राष्ट्रीय, सामाजिक हित में होना चाहिए। लेखक संगठनों का काम सदस्यता बढ़ाना, आयोजन कराना, घोषणाएँ और भाषण कराने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, अपितु व्यापक सार्वजनिक जीवन में उनकी भूमिका सार्वजनिक बुद्धिजीवी की होनी चाहिए।

डॉ. इंद्रनाथ मदान इन लेखक-संगठनों, संघों की दशा, दिशा और कार्य- शैली पर भी विचार करते हैं कि इनका प्रयोजन क्या था और आज ये संगठन अपना व्यापक जनाधार खोते जा रहे हैं। जो लेखक, बुद्धिजीवी इनसे जुड़े हुए हैं, उनका जनमानस से कितना गहरा रिश्ता है? इन संगठनों की आलोचना के साथ-साथ वे साहित्य में विचारधारा के अंधानुकरण का विरोध भी करते रहे, लेकिन जनवादी लेखक संघ पंजाब शाखा के अध्यक्ष पद को भी उन्होंने स्वीकार किया था। क्या

यह एक अंतर्विरोध नहीं है कि एक ओर दलों, वादों, विचारधाराओं का इतना तीखा विरोध और दूसरी ओर जनवादी लेखक संघ की अध्यक्षता! इसका उत्तर भी व्यंग्यात्मक तरीक़े से देते हैं—“यह संगठन का युग है। अगर मज़दूर और राजनीतिक दल अपना संगठन कर रहे हैं तो बेचारे लेखक-अनुवादक क्यों न करें।”[36] व्यंग्य उनके निबंधों की सबसे बड़ी ताक़त है, चोट वे ख़ुद पर करते हैं असर दूसरों पर होता है। ज़िंदगी के बड़े प्रश्नों को बहुत ही सरलता-सहजता से उठाते हैं, लेकिन बड़ी गहरी बात कह जाते हैं। पत्रकारों ने जब उन्हें घेरा कि इस उम्र में जनवादी कैसे हो गए? तो उसी व्यंग्यात्मक अंदाज़ में उत्तर देते हुए—“जनवादी बिना किरदार के किस तरह जनवादी हो सकता है? अंत में मैं अपनी इस भेड़ को ज़िंदगी की दुआ देकर गलकटियन के यानी आपके बाड़े में हाँक देता हूँ। ख़ुदा ख़ैर करे।”[37] उनकी दृष्टि यथार्थपरक थी। भ्रम में जीना सीखा न था। अपने भ्रमों, विसंगतियों,अंतर्विरोधों, विरोधाभासों को समझने वाला व्यक्ति ही आत्मालोचना कर सकता है। अपनी दृष्टि को साफ़ कर सकता है। जनवादी होकर भी जनवाद की सीमाओं को पहचान सकता है। संगठनों से जुड़कर ही संगठनों की वास्तविकता को सामने ला सकता है। वे ख़ुद पर भी व्यंग्य करना बेहतर जानते थे। “अब मैं प्रोफ़ेसर बनने के लायक़ हो गया हूँ क्योंकि मेरे पास अपना मकान है और पढ़ना-लिखना मैंने बंद कर दिया है।”[38] क्या यह व्यंग्य उस पूरी सुविधाभोगी प्रबुद्ध जमात पर नहीं है जिनके पास दुनिया के तमाम साधन हैं, लेकिन साधना नहीं! इस ‘आयरनी’ को सामने लाने की कला जितनी उनकी क़लम में थी, वह शायद ही किसी बड़े निबंधकार-व्यंग्यकार में हो। यह एक अलग बात है कि आलोचकों को उनका यह व्यंग्यात्मक तेवर कम ही पसंद आया—“डॉ. मदान के निबंधों में कहीं-कहीं उनकी आलोचकीय मुद्रा हावी हुई है। इसके साथ ही उनका साहित्यिक अध्ययन, अपनी सबलता-दुर्बलता लिए हुए उजागर भी होने लगता है।

डॉ. मदान की तुलना चंद्रधर शर्मा गुलेरी, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, कुबेरनाथ राय और विद्यानिवास मिश्र जैसे ललित निबंधकारों से नहीं की जा सकती। भारतीय संस्कृति की विरासत, एक बड़ी सीमा तक उन्हें अनछुआ छोड़ गई थी। संस्कृत साहित्य का उनका ज्ञान भी उल्लिखित विद्वानों जैसा ऊँचा नहीं था। वे आमतौर पर प्रेमचंद, शरत्, निराला, इक़बाल, ग़ालिब आदि के उद्धरणों, शेयरों से अपना काम चला लेते हैं। इन साहित्यकारों के बारे में उठने वाले सवालों और उनके बारे में अपने चिंतन को कई बार, वे सायास निबंधों के क्लेवर में सायास करते हैं।”[39] यश गुलाटी ने मदान की निबंध-कला का जहाँ सूक्ष्म विश्लेषण किया है, वहीं उन्होंने उनकी निबंध परंपरा को गुलेरी, द्विवेदी जी, कुबेरनाथ राय और विद्यानिवास मिश्र की परंपरा से अलगाया भी है, क्योंकि उनके पास भारतीय संस्कृति एवं परंपरा का

वह विशाल अध्ययन नहीं था। हरिशंकर परसाई की तरह मदान के निबंधों में व्यंग्य 'आयरनी' का पुट बहुत गहरा है। अपने निबंधों के बारे में मदान जी ने सही कहा है—"बात अपनी बनाकर की जाए और लगे दूसरों को, चोट अपने पर की जाए और पड़े दूसरों पर।...भारत में मिरासी के पेशे को घटिया समझा गया है, व्यंग्य को साहित्य में नीचे रखा गया है। मेरे देश में इसका विकास नहीं हो पाया, जितना विदेश में। इस देश में गंगा बहती है जिसके पावन जल से सब पाप-ताप धुल जाते हैं। इसलिए हँसी-मज़ाक़ की यहाँ कम गुंजाइश हैं कि वह सीधे पाठक के दिलोदिमाग़ में उतरती है।"[40] उनसे संवाद स्थापित करती है। उनमें कहीं भी बौद्धिकता, पांडित्यपूर्ण चमत्कार, कूटोक्तियों, संस्कृत के श्लोकों, उद्धरणों, व्यंग्योक्तियों की भरमार या भाषा का वाग्जाल नहीं है, जो है ज़िंदगी एक खुली किताब की तरह है। यश गुलाटी ने उनके ललित निबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में समझते हुए कहा है—"इंद्रनाथ मदान के निबंध सुरुचि, नफ़ासत, निश्छल आत्माभिव्यक्ति, चुस्तबयानी, विनोदप्रियता और स्वयं पर हँस सकने के सामर्थ्य ('आयरनी') के लिए उल्लेखनीय हैं। वे न तो पंडिताऊपन से बोझिल हैं और न ही शास्त्रीयता के नियमों में आबद्ध। यह शिष्ट, सुसंस्कृत व्यक्ति का वह आत्मालाप है, जो संवाद के धरातल पर जा पहुँचता है।"[41] इंद्रनाथ मदान के निबंध इतने तरल, मर्मस्पर्शी, सरल और सहज हैं वे जंगल के झाड़-झंखाड़ नहीं, मेहनत और मशक्कत से सींचे माली के पौधे हैं।"[42] *भानुमती का पिटारा, कुछ उथले : कुछ गहरे, सुगम शास्त्रीय संगीत* तथा *निबंध और निबंध* संग्रहों में निबंधों के प्रकाशन की पुनरावृत्तियाँ भी हैं, लेकिन इसके बावजूद उनके निबंधों में जो गहराई, व्यापकता एवं मानवीय संवेदनशीलता है, उसका मूल्यांकन, पुनर्पाठ अपेक्षित है।

संदर्भ :

1. यश गुलाटी, 'सुगम संगीत : मदान के ललित निबंध', परिशोध 41, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, पृ. 35.
2. वही, पृ. 35.
3. इंद्रनाथ मदान, *सुगम तथा शास्त्रीय संगीत*, पृ. 105.
4. वही, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 49.
5. वही, पृ. 49.
6. वही, पृ. 11.
7. वही, *कुछ उथले कुछ गहरे*, राजपाल एंड संज़, संस्करण 1974, पृ. 'भूमिका' से।
8. वही, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 81.
9. वही, पृ. 81.

10. वही, *कुछ उथले कुछ गहरे*, पृ. 27.
11. वही, पृ. 27.
12. वही, पृ. 28.
13. वही, पृ. 29.
14. वही, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 37.
15. वही, पृ. 38.
16. वही, पृ. 39.
17. वही, पृ. 37.
18. वही, पृ. 40.
19. वही, पृ. 40.
20. वही, पृ. 42.
21. वही, पृ. 57.
22. वही, पृ. 58.
23. वही, पृ. 59.
24. वही, पृ. 59.
25. वही, पृ. 60.
26. वही, पृ. 25-26.
27. वही, पृ. 26.
28. वही, पृ. 48-49.
29. वही, पृ. 116.
30. वही, पृ. 118.
31. वही, पृ. 118.
32. वही, पृ. 118-119.
33. वही, पृ. 119.
34. वही, पृ. 119.
35. वही, पृ. 119.
36. वही, पृ. 120.
37. इंद्रनाथ मदान, *कुछ उथले : कुछ गहरे*, पृ. 44.
38. यश गुलाटी, *सुगम संगीत : मदान के ललित निबंध*, परिशोध 41, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, पृ. 38.
39. मदान, *भानुमती का पिटारा*, पृ. 106.
40. यश गुलाटी, *सुगम संगीत : मदान के ललित निबंध*, पृ. 38.
41. वही, पृ. 37.
42. वही, पृ. 37

इंद्रनाथ मदान की आलोचना-दृष्टि

डॉ. इंद्रनाथ मदान एक प्रखर चिंतक हैं, जिन्होंने हिंदी आलोचना की जड़ता को तोड़ते हुए, उसको वादों, आलोचना के बाड़ों से मुक्त कराते हुए सृजनशील 'कृति की राह' का सिद्धांत-निरूपण किया। इससे हिंदी आलोचना में गतिरोध भी टूटा तथा उसमें नवाचार भी पैदा हुआ। मदान जी की आलोचना-दृष्टि की मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने साहित्य-आलोचना के प्रतिमानीकरण, शास्त्रबद्धता पर भी सवाल-दर-सवाल खड़े किए तथा उस प्रतिमानीकरण को चुनौती भी दी। मदान जी के अनुसार—"यह बाड़ा चाहे सौंदर्यशास्त्र का हो या समाजशास्त्र का, मिथकशास्त्र का हो या मनोविज्ञान का, रसवाद का हो या अस्तित्ववाद का, अनुकृतिवाद का हो अथवा कृतिवाद का, रूपवाद का हो या वास्तववाद का, बिंबवाद का हो या सपाटवाद का, भारतीय काव्यशास्त्र का हो या पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का, इस शास्त्र का हो या उस शास्त्र का, इस सिद्धांत का हो या उस सिद्धांत का, इस काल का हो या उस काल का, इस देश का हो या उस देश का। यह आलोचना की दिशाओं की दशा है जो जटिल और संकुल होने की गवाही दे रही है। जब भी इसे शास्त्र या वाद के साँचे में ढाला गया है या ढालने की कोशिश की गई तब इसे पुराना चोला उतारने के लिए नया जन्म लेना पड़ा है।"[1]

दरअसल मदान जी के दौर में हिंदी आलोचना की जो दशा और दिशा थी, उसकी बानगी भी हमें उनकी आलोचना में देखने को मिलती है कि कैसे वे अपने समय की चुनौतियों से दो-चार हो रहे थे तथा आलोचना के ख़तरों को भी पहचान रहे थे, जो कृतियों का सार्थक मूल्यांकन करने की जगह उसे धुँधला रहे थे। उस समय की आलोचना अपने-अपने वादों, सिद्धांतों, बाड़ों में क़ैद थी जिससे साहित्यिक कृतियों का सही मूल्यांकन नहीं हो पा रहा था। वह चाहे 'कामायनी : एक असफल कृति' का मुद्दा हो या मुक्तिबोध और अज्ञेय की कविताओं का मुद्दा, नई कहानी

का मुद्दा हो अथवा उपन्यास के समीक्षाशास्त्र का मुद्दा, प्रेमचंद कृत *गोदान* हो अथवा *वे दिन*—इन प्रश्नों से डॉ. मदान पूरी बेबाकी से टकराते हैं तथा आलोचना को 'जटिल तथा संकुल' होने से बचाते हैं। यह उनकी आलोचना-दृष्टि की मौलिकता है। उनका मानना है—"यदि आज साहित्य की शुद्धता या पवित्रता पर या उसके अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न लगने लगा है तो आलोचना किस तरह इससे अछूती रह सकती है। बाड़े वालों को असमंजस की स्थिति अखरती है।"[2] आलोचना जब अपने-अपने बाड़ों, सिद्धांतों में क़ैद होने लगती है तो वहाँ कृतियों की सृजनशीलता भी खंडित होने लगती है। उस पर आरोपित विचारधाराओं का रंग चढ़ने लगता है। वहाँ मार्क्सवादी आलोचक कृति का मार्क्सीय दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने लगता है तो सौंदर्यशास्त्री चिंतक सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से, अस्तित्ववादी आलोचक कृति का अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने लगता है तो रूपवादी आलोचक रूपवादी दृष्टिकोण से। इस प्रक्रिया में कृति का मूल पाठ उपेक्षित रह जाता है तथा आलोचक का सैद्धांतिक निरूपण 'कृति' की मूल संवेदना पर इतना हावी हो जाता है कि मूल पाठ ही ग़ायब हो जाता है। जब-जब आलोचना पर इस तरह के पूर्वाग्रहों का दबाव बढ़ा है, इससे आलोचना का भी अहित हुआ है तथा साहित्य का भी।

डॉ. इंद्रनाथ मदान हिंदी आलोचना के इन अंतर्विरोधों को बख़ूबी पहचान रहे थे कि इससे साहित्यिक कृतियों का कितना भला हो सका है। वह चाहे मार्क्सवादी आलोचनाशास्त्र हो अथवा समाजशास्त्रीय आलोचना, अस्तित्ववादी आलोचना हो अथवा रूपवादी आलोचना, सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना हो अथवा आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी आलोचना—इनके ख़तरों, अंतर्विरोधों को पहचानना, समझना भी उतना ही ज़रूरी है। प्रश्न उठता है कि विभिन्न ज्ञानानुशासनों, अंतःज्ञानानुशासनों से लैस होकर आलोचना कितनी परिपक्व हुई है? इन ज्ञानानुशासनों, अंतःज्ञानानुशासनों के आलोक में कृतियों को पढ़ने, समझने, मूल्यांकित करने का कितना विकास हुआ है? उससे कृतियों की संवेदना का विकास हुआ है अथवा ह्रास? उससे कृतियों की सृजनशीलता कितनी सुरक्षित रह सकी है? क्या एक ही सिद्धांत, प्रतिमान से सभी कृतियों का मूल्यांकन संभव है? क्या प्रतिमान भी शाश्वत होते हैं? क्या एक ही प्रतिमान से प्रेमचंद की सभी कहानियों को आँका जा सकता है? डॉ. इंद्रनाथ मदान इन प्रश्नों से बार-बार टकरा रहे थे—"हर पाठक कृति का सृजन अपने स्तर पर करता है। हर कृति के अपने-अपने कला नियम होते हैं। इसकी राह से गुज़रकर या इसकी सृजन-प्रक्रिया से गुज़रकर पता चलता है कि यह क्या-कैसे-किस तरह है। सृजन की इस प्रक्रिया में आलोचक जितने संयम से काम लेता है, उतना वह उसके पास होता है, जितना कम संयम बरतता है, उतना वह अपने पास होकर कृति से दूर होने की गवाही देने लगता है।"[3] इसका प्रमाण डॉ. मदान इस बात से देते हैं

कि कैसे *कामायनी* का मूल्यांकन करते समय हिंदी के आलोचक उससे कितनी दूरी बनाते रहे तथा स्वयं निकट होते गए। *कामायनी* को लेकर आलोचकों, रचनाकारों ने जो टिप्पणियाँ, प्रतिक्रियाएं की हैं वे *कामायनी* के बारे में उनके निकट या उससे दूर होने के ही प्रमाण हैं। *कामायनी* का पुनर्पाठ वहाँ वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक, कृति सापेक्ष न होकर व्यक्तिनिष्ठ होता चला गया जिससे मूल कृति ही ग़ायब हो गई। सबकी अपनी-अपनी व्याख्या, अपना-अपना विश्लेषण। यही कारण है कि *कामायनी* को 'एक असफल कृति' भी घोषित कर दिया गया। डॉ. मदान बार-बार कृति से दूर होने की जो बात उठाते रहे हैं, उनकी मूल चिंता यह है कि पाठक/आलोचक कृति के मर्म या संवेदना को न पकड़कर उस पर अपने विचार थोपता जाता है कि कृति ऐसे न होकर ऐसे क्यों है? दूसरे शब्दों में कहें कि वह 'कृति की राह' से न गुज़रकर अपनी राह पर कृति को ले आता है, जिससे कृति और आलोचना के गुमराह होने का भी ख़तरा बना रहता है। प्रश्न उठता है कि डॉ. मदान जिस 'कृति की राह' का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, 'कृति की राह' पर चलने का आग्रह करते हैं, क्या किसी कृति की एक राह हो सकती है? क्या कृति की राह पर न चलने से कृति गुमराह हो जाएगी? कृति की कोई एक निश्चित, 'फ़िक्स', बनी-बनाई राह हो नहीं सकती, जिस पर प्रत्येक पाठक/आलोचक चले, बल्कि उसमें तो अनेक राहें हो सकती हैं। उन नई राहों का संधान तो पाठक/आलोचक ही करता है।

कृति में असंख्य राहें फूटती हैं। पाठक अपनी सृजनशील आलोचनात्मक दृष्टि द्वारा उसमें नए अर्थ भरता, नए प्रश्न उठाता, नई-नई राहों का संधान भी तो करता है! इसका अर्थ तो यह हुआ कि पाठक/आलोचक 'कृति की राह' को पकड़े, उसका अनुसरण करे! मदान जी की आलोचना जिस 'कृति की राह' की बात करती है वह है कृति संसार के भीतर प्रवेश करना। क्या कृति और पाठक के बीच निरंतर वाद-विवाद-संवाद नहीं चलता? डॉ. मदान बार-बार अपनी इस धारणा पर बल देते हैं—"वह अपने वास्तव को कृति में देखना चाहता है, जिसे वह ऐतिहासिक वास्तव समझता है। वह जब बाहर के वास्तव की बात करता है तो वह निजी वास्तव को उस पर आरोपित करना चाहता है और वह बड़ी आसानी से भुला देता है कि कृति का अपना रचना-संसार होता है, उसकी अपनी रचना-प्रक्रिया होती है, जिसकी राह से गुज़र कर उसे आँकना होता है। अस्तित्ववाद का अपना सौंदर्यशास्त्र है और मार्क्सवाद का अपना, इसी तरह कृतिवाद का अपना है और आधुनिकतावाद का अपना, रसवाद का अपना है और ध्वनिवाद का अपना। हर विधा की लय भी अपनी-अपनी होती है—कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी आदि की। क्या अनुकृति सिद्धांत के आधार पर काफ़्का की कृतियों को पूरी तरह से पहचाना जा सकता है? आज मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को आरोपित कर जॉयस के *यूलिसेस*

उपन्यास को परखना उचित होगा? क्या कृतिवाद की दृष्टि से *युद्ध और शांति* को आँकना संभव होगा? क्या सपाटवाद के आधार पर मुक्तिबोध की कविताओं को आँका जा सकता है? शास्त्र या वाद जहाँ एक तरफ़ नया रास्ता खोलता है, वहाँ वह अपनी सीमा में बंद होकर जड़ता की दशा या स्थिति को भी सूचित करने लगता है। परिभाषाएँ भी सूत्रबद्ध होकर कृति की पहचान को जहाँ उजागर करती हैं, वहाँ इसे धुँधला भी बना डालती हैं।"[4] मदान जी की आलोचना-दृष्टि की मौलिकता यही है कि वे प्रश्न उठाते हैं, पूछते अधिक हैं, बोलते कम हैं। जब बोलते हैं, मुँह खोलते हैं तो बड़े-बड़े आलोचकों, सिद्धांतकारों के वर्चस्व को चुनौती देते प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा बड़े-बड़े आलोचकों को चुनौती देती है। प्रश्नात्मकता उनकी आलोचनात्मक चेतना, सतत् विवेकशीलता, संवादधर्मिता में बदलने लगती है। उनके चिंतन और व्यवहार में, अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन में यही गहरी प्रश्नाकुलता, तार्किकता, व्यंग्यात्मकता है कि एक प्रश्न में ही विरोधी का बना बनाया सारा पिरामिडी ढाँचा क्षण-भर में ही ढहता दिखाई देता है। उनका यह कहना बेहद समीचीन, सार्थक प्रतीत होता है कि हिंदी आलोचना परिभाषाओं की जड़ता में धुँधलाती जा रही है। परिभाषाएँ, अवधारणाएँ वहाँ इस प्रकार आती हैं जैसे अधपकी दाल-सब्ज़ी में सब-कुछ अलग-अलग नज़र आता है।

आलोचक नई-नई परिभाषाओं, अवधारणाओं को लपकने की होड़ में रहते हैं जिससे वे अपने बहुपठित होने का स्वाँग रचते हैं, जबकि ऐसे प्रयास उनके बहुपठित होने की अपेक्षा उसके कुपढ़ होने का प्रमाण देने लगते हैं। मार्क्सवादी आलोचना हो अथवा सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना, आधुनिकतावादी आलोचना हो अथवा उत्तर आधुनिकतावादी आलोचना, इन सभी आलोचनात्मक क्षेत्रों में परिभाषाओं, अवधारणाओं का जो घालमेल चलता है, वह हमारी छद्म बौद्धिकता का वाग्जाल ही तो होता है। जब-जब हिंदी आलोचना इस प्रकार परिभाषाओं, अवधारणाओं के मोह-जाल का शिकार हुई है उससे कृतियों का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। डॉ. मदान पाठक को इन ख़तरों, चुनौतियों से आगाह भी करते हैं तथा उनसे बचने की राह भी बताते हैं। सही अर्थों में हिंदी आलोचना यदि सृजनशील नहीं हो पाई है तो उसका एक मुख्य कारण आलोचना को सूत्रबद्ध, परिभाषाबद्ध, रूढ़ करना भी है। डॉ. मदान इसका एक मुख्य कारण पाठक अथवा आलोचक का कृति से सही परिप्रेक्ष्य से विचार न कर पाना मानते हैं—"यह शायद इसलिए हो रहा है कि पेशेवर पाठक या आलोचक यह अधिक सोचता है कि कृति इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है, क्या—कैसे—किस तरह की बात कम सोचता है। एक बड़े आलोचक को *युद्ध और शांति* से यही शिकायत है कि इसके लेखक को ऐतिहासिक विकास का सही बोध नहीं है और उसने इतिहास का सहारा लेकर क्यों उड़ाया है

इतिहास का मज़ाक़! आलोचक अपनी-अपनी अनुभूति और अपनी-अपनी प्रासंगिकता को आरोपित कर कृति को आँकने और परखने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप वे अपने निकट और कृति से दूर होने की गवाही देने लगते हैं।"[5] आलोचना जब भी इस प्रकार के पूर्वाग्रहों की शिकार हुई है, वह कृति से उतनी ही दूर हुई है। आलोचक जब अपनी बनी-बनाई, पूर्व निर्धारित दृष्टि से कृति को आँकने, परखने की कोशिश करता है तो वह कृति पर अपनी पूर्व निर्धारित विचारधारा को आरोपित कर देता है, जिससे मूल कृति की संवेदना ही दब जाती है। क्या रामविलास शर्मा की आलोचना ने मुक्तिबोध के साथ यही नहीं किया? जो न्याय वे निराला के साथ कर पाए, क्या वही न्याय उन्होंने मुक्तिबोध के साथ किया? हर कृति, रचना के अपने नियम होते हैं, उसकी पृथक् संवेदना होती है। क्या प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' और 'सद्गति' का यथार्थ एक जैसा है? क्या 'पूस की रात' और 'ईदगाह' की रचनात्मक संवेदना एक समान है? प्रेमचंद की प्रत्येक कहानी की रचनात्मक संवेदना अलग है तो उसे क्या एक ही कोण से देखा, पहचाना, समझा जा सकता है? क्या एक ही लाठी से सबको हाँका जा सकता है?

वास्तव में डॉ. मदान की चिंता आलोचना के प्रतिमानों, मापदंडों के स्थिरीकृत, जड़ीभूत, शास्त्रबद्ध होने की थी कि जब हम बने बनाए फ़ार्मूलों, सरलीकृत खाँचों में कृति को ढालने की कोशिश करते हैं तथा एक ही साहित्यिक विधा के प्रतिमानों, मापदंडों को दूसरी साहित्यिक विधाओं पर जबरन लागू करने की चेष्टा करते हैं तो वह ख़तरनाक साबित होता है। मदान जी के अनुसार—"एक साहित्यिक विधा की लय को जब दूसरी पर आधारित किया गया है तो वह आलोचना के लिए ख़तरनाक साबित हुआ है। इसी तरह एक साहित्यिक विधा की विभिन्न कृतियों को पहचानने-परखने का जब एक ही मानदंड आधार बनाया गया है तो वह भी ख़तरे से ख़ाली साबित नहीं हुआ। एक उपन्यास में रचना विधान नाट्यात्मक है, दूसरे में काव्यात्मक, तीसरे में प्रतीकात्मक, चौथे में समाजात्मक, पाँचवें में व्याख्यात्मक, छठे में व्यंग्यात्मक।"[6] आलोचना के प्रतिमान भी बदलते रहते हैं और सच्चाई यह है कि प्रतिमान या मापदंड बाहर से नहीं, कृतियों के भीतर से ही पैदा होने वाली चीज़ है। इतना ही नहीं, आलोचना के प्रतिमान कोई स्थिर, जड़, शाश्वत वस्तु नहीं हैं, अपितु समय के बदलने के साथ-साथ आलोचनात्मक औज़ार, प्रतिमान भी तो बदलते रहते हैं। उनमें परिवर्तन लाना ज़रूरी होता है।

आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह आलोचना के प्रतिमानों का भी पुनः परीक्षण, नवीनीकरण करे। क्या आज इक्कीसवीं सदी की कविता को *कविता के नए प्रतिमानों* से आँका जा सकता है? जब डॉ. नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक लिखी थी तो वे उस दौर की कविता को सामने रखकर रचे गए प्रतिमान

थे, लेकिन आज इक्कीसवीं दौर के इस उत्तर-औपनिवेशिक समाज में कविता का कथ्य, शिल्प, लय, ढाँचा, स्वरूप, जब सब कुछ बदल रहा है तो हमें इस सदी की कविता का सही मूल्यांकन करने के लिए अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों का भी परीक्षण, पुनःपरीक्षण करना होगा कि वे इस बदलते हुए समय और उसके साहित्य की पहचान में कितने सार्थक, प्रासंगिक एवं अर्थवान् हैं।

इंद्रनाथ मदान ऐसे प्रबुद्ध आलोचक थे जो उस दौर में आलोचना के संकट और चुनौतियों को पहचान रहे थे कि आलोचना के प्रतिमान कृतियों को नए आलोक में समझने में कितने सार्थक हो सकते हैं तथा उनके क्या-क्या ख़तरे हैं। इसका अर्थ यह है कि जो प्रश्न डॉ. मदान छठे-सातवें दशक में पूरी संजीदगी और संवेदना के साथ उठा रहे थे, उनके प्रति आलोचक वर्ग इतना जागरूक, संवेदनशील नहीं था। जब प्रत्येक कृति की अपनी रचनात्मक संवेदना होती है तो उसके प्रतिमान भी उसके भीतर से ही गढ़े जाने चाहिए। क्या 'कफ़न' कहानी को समझने के लिए वही दृष्टि काम कर सकती है जो 'सद्‌गति', 'गुल्ली डंडा' या 'पंच परमेश्वर' को समझने के लिए काम करती है? इन प्रश्नों से दो-चार होकर ही हम आलोचना शास्त्र की समस्याओं को ठीक ढंग से समझ सकते हैं कि रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि मुक्तिबोध का मूल्यांकन करने से क्यों चूक जाती है? निराला का मूल्यांकन वे इतनी पारदर्शिता से करते हैं कि मानो उनकी अंतरात्मा में प्रवेश कर गए हों, लेकिन मुक्तिबोध का मूल्यांकन करते समय उनका आलोचनात्मक विवेक उस तरह से काम नहीं करता? डॉ. मदान इन प्रश्नों को जिस ढंग से उठाते हैं, उन पर आज पुनर्विचार करने की जरूरत है—"क्या एक ही रस्सी से सबको फाँसी देना या एक ही सीढ़ी से सबको चढ़ाना संभव है? *गोदान* को पहचानने की पद्धति *वे दिन* के काम नहीं आ सकती। हर उपन्यास को उसकी राह से गुज़रकर पहचानने के सिवाय और चारा ही क्या है? यह कविता विधा के बारे भी संगत जान पड़ता है। क्या *अंधायुग*, 'कुकुरमुत्ता' और 'अँधेरे में' का मूल्यांकन आलोचना की एक पद्धति के आधार पर हो सकता है?"[7] प्रश्न यहाँ आलोचना की एक पद्धति को लेकर है। (उसकी मूल चिंता यह है कि पाठक/आलोचक कृति के मर्म या संवेदना को न पकड़कर उस पर अपने विचार, पूर्वाग्रह आरोपित करता चलता है कि यह ऐसे क्यों है? वह 'कृति की राह' से न गुज़रकर कृति को अपनी राह पर ले आता है जिससे उस कृति और आलोचना के गुमराह होने का भी ख़तरा पैदा हो जाता है।

डॉ. मदान 'कृति की राह' पर बल देते हैं, लेकिन कृति की एक राह कैसे हो सकती है, जिसका पालन किया जाए या राह बदल लेने से कृति गुमराह हो जाएगी? कृति की कोई राह एक हो ही नहीं सकती, उसमें अनेक राहें होती हैं, नई राहों का संधान तो पाठक खुद करता है। उसी में से नई-नई राहें फूटती हैं। कुछेक

आलोचक उनसे 'कृति की राह' के बारे में पूछते हैं कि कृति की कौन-सी राह हो सकती है! उनकी स्थिति उस बच्चे-सी है जो अभी भी अंगुली पकड़कर चलना, बने-बनाए, बताए रास्तों पर चलना चाहता है कि कहीं भटक न जाए। 'कृति की राह' से अभिप्राय है कृति के भीतरी संसार में प्रवेश करना।) आलोचक को इस तथ्य-सत्य का ज्ञान होना चाहिए कि वह जिस कृति को परख रहा है, उसे किन आलोचनात्मक सिद्धांतों, प्रतिमानों से परखना, आँकना चाहिए। क्या एक ही प्रतिमान, सिद्धांत से सभी कृतियों का मूल्यांकन किया जा सकता है? क्या कहानी विधा पर भी वही आलोचनात्मक सिद्धांत, प्रतिमान लागू होंगे जो कविता पर लागू होते हैं? यही आलोचना के शास्त्रबद्ध होने के ख़तरे हैं। उपन्यास विधा का सिद्धांतशास्त्र अलग है और कविता का काव्यशास्त्र भिन्न। कहानी विधा का आलोचनाशास्त्र भिन्न है तो नाटक विधा का भिन्न है। प्रत्येक विधा को जाँचने-परखने के सिद्धांत अलग हैं लेकिन हिंदी आलोचना का यह घनघोर दुर्भाग्य रहा है कि वह बने-बनाए सिद्धांतों से उपन्यास को भी परखती रही है, कहानी को भी और कविता को भी। क्या यह 'एक ही लाठी से सभी को हाँकना' नहीं होगा?

मदान जी का यह कहना पर्याप्त उचित है कि "एक साहित्यिक विधा की लय को भी जब दूसरी पर आरोपित किया गया है तो वह आलोचना के लिए ख़तरनाक साबित हुआ है।"[8] इतना ही नहीं प्रेमचंद के उपन्यासों पर उपन्यासशास्त्र के वे पश्चिमी सिद्धांत भी लागू नहीं होते जो जॉर्ज लूकाच या लुसिएं गोल्डमान ने उपन्यास के सिद्धांतशास्त्र में दिए हैं। भारत में उपन्यास विधा का जन्म एवं विकास जिन परिस्थितियों में हुआ है क्या पश्चिमी राष्ट्रों में भी उपन्यास विधा का जन्म उन्हीं परिस्थितियों में हुआ है? यह प्रश्न आज भी गहरे विवाद का विषय बना हुआ है कि भारतीय उपन्यास का काव्यशास्त्र किन अर्थों में पश्चिमी उपन्यासशास्त्र से भिन्न है और कैसे? आज एक नए काव्यशास्त्र की जरूरत क्यों महसूस की जाने लगी है? क्या उपन्यास विधा का एक काव्यशास्त्र बना लेने से *गोदान, झूठा सच, राग दरबारी* का मूल्यांकन किया जा सकता है? क्या *गोदान* पर भी उपन्यास विधा के वही प्रतिमान, सिद्धांत लागू होंगे जो *राग दरबारी* पर? *झूठा सच* की पहचान क्या समाजशास्त्रीय पद्धति के आधार पर करना संगत होगा? यह ठीक है कि उपन्यास एक ऐसी विधा या भानुमति का पिटारा है जिसमें सब तरह की बातें समा सकती हैं—विज्ञान, मज़हब, समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, लेकिन उपन्यास स्वयं समाजशास्त्रीय, सौंदर्यशास्त्रीय नहीं हो सकता।"[9]

डॉ. इंद्रनाथ मदान प्रत्येक विधा का पृथक् आलोचनाशास्त्र रचने के पक्ष में हैं और वह आलोचना-सिद्धांत कृति के भीतर से ही पैदा होने चाहिए, आरोपित नहीं। जब आलोचक बने-बनाए, पूर्व-निर्धारित प्रतिमानों के आलोक में कृतियों को परखने लगता है तो कृति का वास्तव, सच दब जाता है और आलोचक का अपना

वास्तव मुखरित होने लगता है। आलोचक उसे अपने आलोचनात्मक सिद्धांतों के आधार पर परखने के प्रयास में उसका विकृतीकरण करने लगता है क्योंकि "हर कृति का अपना वास्तव होता है और उसे बाहर के वास्तव के आधार पर आँकना असंगत साबित हो सकता है।"[10] क्या बाहर के वास्तव का कृति से कोई संबंध नहीं होता?

हिंदी आलोचना के एक और संकट को उद्‌घाटित करते हुए इंद्रनाथ मदान लिखते हैं—"आलोचना में जिन पारिभाषिक शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है उनका मतलब क्या है? हर बाड़े वाला उसे अपने तौर पर लेता है। रूप शब्द से क्या मतलब है? समाजशास्त्रीय आलोचक के लिए इसका एक आशय है, सौंदर्यशास्त्रीय आलोचक के लिए दूसरा और इसी तरह इसे अनेक अर्थों में इस्तेमाल किया जा रहा है। एक कहता है कि कला रूप पर जीती है, माल पर नहीं, इसकी शालीनता उसकी रचना से फूटती है। इसकी शरीर-रचना से जन्मती है। इसलिए संरचना वास्तव में कृति का कलात्मक अंश है। इसी तरह दूसरा कहता है उपन्यास की वस्तु समाज के सच्चे चित्रण से बनती है। यहाँ रूप का आशय पहले रूप से भिन्न है।"[11] आलोचना जब पारिभाषिक शब्दावली में उलझती है तो वह उतनी ही अवास्तविक, असंवेदनशील, असृजनशील होने लगती है। आलोचक/पाठक पारिभाषिक शब्दों का ऐसा जटिल जाल बुनते हैं कि आलोचना मक्कड़-जाल, वाग्जाल बनकर रह जाती है। मार्क्सवादी आलोचना हो अथवा रूपवादी आलोचना, सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना हो या आधुनिकतावादी आलोचना, संरचनावादी आलोचना हो या शैली-वैज्ञानिक आलोचना इस तरह के पारिभाषिक शब्दों, अवधारणाओं में इस क़द्र उलझी है कि वह बौद्धिक, संश्लिष्ट तो अवश्य हुई है, लेकिन संवादधर्मी नहीं बन सकी। आलोचना की लड़ाई पारिभाषिक शब्दों में सिमटकर रह गई है। जब-जब हिंदी आलोचना में पारिभाषिक शब्दों, अवधारणाओं को लेकर बहस छिड़ी है उससे आलोचना का अहित ही हुआ है। आलोचक अपना पांडित्य प्रदर्शन करने के लिए ऐसे-ऐसे कठिन, जटिल शब्दों, अवधारणाओं को उठाते रहे हैं, जिससे आलोचना इतनी दुरूह, जटिल, असंप्रेषणीय, दुर्बोध, अपठनीय होने लगती है। डॉ. मदान उन आलोचकों में से थे जो आलोचना को न केवल कृति केंद्रित, वरन् पाठक केंद्रित भी करना चाहते थे, ताकि वह संवादधर्मी बन सके। अपने समय के बौद्धिक, आलोचनात्मक सवालों से इतनी शिद्दत और निर्भीकतापूर्वक टकराने वाला बेबाक आलोचक ही ऐसी तिक्त, यथार्थपरक बातें कहने का नैतिक साहस कर सकता है। क्या ऐसा नैतिक साहस, प्रतिरोधी चेतना की अभिव्यक्ति आज के आलोचकों के पास है?

आज यदि आलोचना में वह धार, वह संवेदनशीलता, संवादधर्मिता नहीं है तो क्या उसके पीछे हमारे आलोचकों का असंवेदनशील होना नहीं है? आलोचना में धार, चमक, दीप्ति तभी आ सकती है जब आलोचक अपने कर्त्तव्य को समझे कि

समाज में उसकी क्या भूमिका है और वह कैसी भूमिका निभा रहा है। मदान अपने समय के आलोचनात्मक संसार से परिचित थे कि हिंदी आलोचना की क्या दशा और दिशा है तथा उसे किस दिशा में अग्रसर होना चाहिए। उन्हें इस तथ्य-सत्य का भी पूर्ण बोध था कि "आलोचना आज फिर अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए और अपनी अस्मिता को जानने-समझने के लिए अनेक दिशाओं में भटकने की गवाही दे रही है।"[12] डॉ. इंद्रनाथ मदान हिंदी आलोचना के उस संकट को पहचान रहे थे कि आख़िर क्यों वह संवादात्मक नहीं बन रही है? हिंदी आलोचना में इतनी संवादहीनता, संवेदनहीनता क्यों है, उसके पीछे वे पाठक या आलोचक की संवेदनशीलता को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं, "कभी-कभी पाठक की संवेदना भी कृति की राह से गुज़रने में साथ नहीं देती, कृति की राह से गुज़रने की बात जितनी आसान होती है उतना गुज़रना मुश्किल। आलोचकों के अपने-अपने वाद या शास्त्र भी हैं जो युग-बोध के साँचों में ढलते रहे हैं।"[13]

जब पाठक या आलोचक अपने-अपने बाड़ों, शास्त्रों में क़ैद, सीमित होकर कृतियों को परखेगा तो वहाँ कृतियाँ मौन हो जाएँगी तथा शास्त्र मुखरित। सिद्धांत, विचारधाराएँ वहाँ सिर चढ़कर बोलने लगती हैं। विचारधाराओं का आग्रह, दुराग्रह, कृतियों की संवेदना, अर्थवत्ता की हत्या कर देता है। वहाँ आलोचक के सिद्धांतों का वर्चस्व कृति को अनुशासित, नियंत्रित करने लगता है। ज़ाहिर है हिंदी आलोचना पर विचारधाराओं का इतना ज़बर्दस्त वर्चस्व रहा है कि कृतियाँ वहाँ दोयम दर्जे की चीज़ बनकर रह गई है। अज्ञेय और मुक्तिबोध को लेकर क्या यही स्थिति नहीं बनी रही? मार्क्सवादी चिंतकों ने मुक्तिबोध को बड़ा कवि सिद्ध करने के लिए अपनी पूरी ताक़त लगा दी तथा अज्ञेय को गिराने के लिए उससे भी अधिक श्रम किया। क्या आलोचना का काम किसी को उठाना या गिराना होता है? इन ख़तरों को वे बार-बार उठा रहे थे—"आलोचकों को मज़ा लेखकों को गिराने में अधिक आता है, उठाने में कम और गिरतों को थामने में उससे कम। यह भी देखा गया है कि लेखक यदि अपनी कृतियों के बल पर बाद में खड़ा हो जाता है या किसी कारण से स्थापित हो गया है तो उसकी पूजा भी होने लगती है।"[14] डॉ. मदान हिंदी आलोचकों के उस वर्चस्ववादी प्रभुत्वशाली चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं जिसके कारण साहित्य में लेखकों को उठाने-गिराने की राजनीति भी काम करती है और आज भी कर रही है।

आलोचना के क्षेत्र में जो गिरोहबाज़ी है कि कौन-सा लेखक किस गुट, दल का सदस्य है, उसी आधार पर उसका मूल्यांकन होता है कि वह किस स्तर का लेखक है। विचारधारा विशेष से जुड़कर उसकी रचनाधर्मिता का स्तर, धरातल, दर्जा तय होने लगा कि वह बड़ा लेखक है या छोटा। उसका साहित्यिक क़द उसकी रचनाओं के आधार पर नहीं, अपितु 'वह किस बाड़े की भेड़' है इससे निर्धारित

होने लगा। डॉ. मदान आलोचना के इन ख़तरों को भाँप रहे थे कि इससे न तो साहित्य का भला होगा और न ही आलोचना और पाठक समुदाय का। जब आलोचकों के अपने-अपने गुट, दल बने हुए हैं तो साहित्यकार उससे निरपेक्ष कैसे रह सकता है? यही वजह है कि इस गुटबाज़ी, राजनीति, विचारधारा विशेष से प्रेरित आलोचना ने साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं किया। अज्ञेय इसके सर्वाधिक शिकार हुए। मुक्तिबोध, प्रेमचंद भी इस राजनीति से बच न सके। यही कारण है कि हिंदी की अनेक महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक प्रतिभाएँ आलोचकों की इस राजनीति से प्रेरित आलोचना-दृष्टि का शिकार रही हैं।

आख़िर क्या कारण है कि आज एकाएक अज्ञेय जी के सृजनात्मक लेखन को लेकर आलोचकों में एक नए प्रकार का उत्साह जगा है और उन्होंने अज्ञेय के प्रति अपनी उस पूर्वाग्रही सोच को स्वीकार भी किया है कि उन्होंने उस समय अज्ञेय को समझने में भूलें की थीं। मदान जी का इस संबंध में बहुत ही उपयुक्त वक्तव्य है जो आलोचकों के अंतर्विरोधों को रेखांकित करता है। "इस तरह की संजय की दिव्य दृष्टि हर आलोचक के पास नहीं होती और दुरुपयोग से इसके खोने का खटका लगा रहता है। पुराने और नए प्रायः सब आलोचकों ने तरह-तरह की भूलें की हैं, इनकी भूलोंमय कहानी को कहा तो जा सकता है, लेकिन प्रायः इससे सीखा नहीं जा सकता। यदि इतिहास की भूलों से इंसान सीख पाता तो जीने का आधा मज़ा चुक जाता है। हर युग के आलोचक को इन भूलों का शिकार होना पड़ा है, बड़े को अधिक छोटे को कम! आलोचना का आधा-अधूरा इतिहास इसका साक्षी है।"[15] इसीलिए तो कहा गया है "कभी आलोचक की दृष्टि साफ़ नहीं है तो कभी नीयत।"[16] दृष्टि का साफ़ न होना इतना ख़तरनाक नहीं होता जितना नीयत का साफ़ न होना होता है। जब कोई दृष्टि संपन्न आलोचक ऐसी भूलें करता है तो फिर उसकी नीयत पर ही संदेह होता है। इसीलिए डॉ. मदान आलोचक के लिए दृष्टि और नीयत दोनों की ही सफ़ाई ज़रूरी समझते हैं।

यदि आलोचक की नीयत में ही खोट होगी तो वह कृति की राह से गुज़रने का कष्ट क्यों करेगा? बिना कृति को पढ़े ही 'कृति को ख़ारिज़ कर देना या उसे आकाश पर चढ़ा देना क्या समीक्षा कर्म के अंतर्गत आता है? आलोचकों का काम लेखक को या तो धूल में मिलाना या आकाश में पहुँचाना रह गया है। वह उनका वस्तुनिष्ठ, कृति-सापेक्ष मूल्यांकन नहीं करना चाहता। इसके पीछे दो ही कारण हैं—प्रतिभा का अभाव अथवा दृष्टि नीयत में कहीं खोट। आलोचना लिखते समय भी आलोचक की दृष्टि कृति पर नहीं, वरन् कृतिकार पर अधिक रहती है कि वह लेखक कौन है, किस पृष्ठभूमि का है, उसकी विचारधारा क्या है, किन लोगों के साथ उसके क्या संबंध हैं। आलोचना का काम लेखक को देखना नहीं, उसकी कृति को है कि वह क्या कह रही है? लेखक क्या कह रहा है, उसे नहीं, कृति को देखो

कि वह क्या कह रही है? आलोचक जब कृति केंद्रित होने की जगह कृतिकार केंद्रित होकर बोलेगा, लिखेगा तो ऐसे अंतर्विरोधों का पैदा होना स्वाभाविक ही है। लेखकों की स्थिति यह है कि 'वह कभी समकालीन आलोचक की उपेक्षा और उदासीनता का शिकार रहा है, कभी-कभी उसकी फटकार और उसके तिरस्कार का भी।"[16] डॉ. मदान आलोचना की दुनिया में पनप रहीं इन विसंगतियों, अंतर्विरोधों को पहचान रहे थे जिससे हर युग में श्रेष्ठ लेखन किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य हुआ है। हर देश का बड़े से बड़ा साहित्यकार इसका शिकार हुआ है। बाद में भले ही उसे कालजयी लेखक के रूप में स्वीकारा गया, लेकिन अपने समय में वह चिर-उपेक्षित, अलक्षित ही रहा।

जिस दौर में प्रेमचंद लिख रहे थे तो क्या उनके लेखन के महत्त्व को आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक ने पहचाना था—"आज से चौबीस साल पहले (1946) जब मैंने प्रेमचंद के कथा-साहित्य के बारे में कुछ लिखा था तब आलोचक उपन्यास और कहानी को उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। आचार्य शुक्ल तक ने प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर इस तरह के दो-चार चलते वाक्य लिखकर संतोष पा लिया था—"इनके उपन्यासों और कहानियों में सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के आंदोलनों का आभास-मात्र है। इसमें जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज-सुधार का लक्ष्य स्पष्ट हो गया है, वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक का रूप उभर आया है। इनकी कहानियों में कहानी की पद्धति बीच की है जिसमें घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर पूरा भरोसा न करके लेखक भी कुछ मार्मिक व्याख्या करता चलता है।' आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रेमचंद के कथा-साहित्य का इस तरह का वस्तुगत तथा शिल्पगत मूल्यांकन कर उसकी उपेक्षा की है।"[17]

प्रश्न उठता है कि उस समय की आलोचना उपन्यास और कहानी विधा के बारे में असंवेदनशील क्यों थी? इसका एक कारण यह भी है कि उस दौर में आलोचना कविता केंद्रित थी। उपन्यास और कहानी विधा को लेकर आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक भी उतने आश्वस्त नहीं थे। उस दौर में डॉ. मदान प्रेमचंद के कथा-साहित्य को लेकर एक नया समीक्षाशास्त्र गढ़ रहे थे। मदान जी के ही शब्दों में—"इसका कारण शायद यह है कि उस समय उपन्यास और कहानी गंभीर विवेचन के योग्य नहीं थी। आलोचक का मन भी काव्य में अधिक रमता था। इसकी परंपरा भी संपन्न थी, जबकि उपन्यास तथा कहानी का स्थान साहित्य संसार में हरिजन का था।"[18] डॉ. इंद्रनाथ मदान 1946 के आसपास प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर बहुत गंभीरतापूर्वक विचार रहे थे और कविता की अपेक्षा गद्य की वैचारिक ताक़त का भी उन्हें पूरा आभास था कि गद्य ही हिंदी की वास्तविक शक्ति है। उनका यह मानना पूर्णतया सही है कि आचार्य शुक्ल की आलोचना उस दौर के कथा-साहित्य

के साथ उचित संवाद क्यों नहीं बना पाई? उनकी आलोचना के प्रतिमान काव्य-केंद्रित थे। प्रेमचंद के लेखन के साथ उनकी आलोचनात्मक दृष्टि यदि सही न्याय नहीं कर पाती तो इसका मुख्य कारण कथा साहित्य के प्रति उनकी उपेक्षापूर्ण दृष्टि थी कि उनका मन काव्य में अधिक रमता था। ऐसा नहीं कि उस दौर का कथा-साहित्य इस योग्य ही नहीं था कि उसको मूल्यांकन का आधार ही नहीं बनाया जा सकता था या वह आलोचना के योग्य ही नहीं था। यह काम मदान जी की आलोचना-दृष्टि ने किया तथा उन्होंने बिल्कुल सही परिप्रेक्ष्य से प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का मूल्यांकन ही नहीं किया, अपितु कथा-साहित्य के नए प्रतिमान भी स्थापित किए कि उस युग के कथा-साहित्य की क्या भूमिका है। इसके साथ मदान जी यह भी स्वीकार करते हैं—"आचार्य शुक्ल ने जब यह लिखा था तब *गोदान* (1936) उनके सामने नहीं था। यदि इसे देख लेते तो शायद अपनी राय बदल लेते—कि बात करना भी उसी तरह बेकार है कि मैं न होता तो ख़ुदा होता।"[19]

डॉ. इंद्रनाथ मदान इसे उस युग की आलोचना-दृष्टि के अंतर्विरोध के रूप में देखते हैं कि आचार्य शुक्ल जैसा दृष्टि-संपन्न प्रबुद्ध आलोचक यदि उस दौर के कथा-साहित्य को पहचानने, उसका सार्थक मूल्यांकन करने से चूक गया तो उनकी रुचि-अरुचि, पसंदगी-नापसंदगी का भी प्रश्न था। उन्हें कथा-साहित्य की जगह काव्यास्वादन, मूल्यांकन में अधिक रुचि थी। कविता उनके आलोचनात्मक मानस के अधिक अनुकूल थी। प्रेमचंद का कथा-साहित्य उन्हें प्रचारात्मक, राजनीतिक आंदोलनों से अधिक प्रेरित लगता था। यही कारण है कि उन्होंने ऐसे दो-चार वक्तव्यों से ही अपने आलोचनात्मक कर्म की इतिश्री कर दी। लेखकों की उपेक्षा का कारण युगीन पाठकीय अभिरुचियाँ भी होती हैं। आलोचकों के पास जब कथा-साहित्य की मूल संवेदना से तादात्म्य स्थापित करने की ही संवेदना नहीं थी तो वे उस दौर के महत्त्वपूर्ण साहित्य से कैसे जुड़ते! साहित्य के पवित्र मंदिर में प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों का प्रवेश वर्जित था। डॉ. मदान जैसे प्रबुद्ध, संवेदनशील आलोचक साहित्य के मंदिर में प्रेमचंद का प्रवेश कराते हैं तथा उनके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रयोजनों को भी रेखांकित करते हैं। प्रेमचंद के साहित्य की संवेदना को जितनी बारीकी तथा वस्तुपरकता से उस दौर में मदान जी ने समझा है उसने आगे चलकर कथा-साहित्य की संवेदना को समझने की एक नई दृष्टि प्रदान की, आलोचना की एक नई ज़मीन तैयार कर दी।

हर आलोचक को आलोचना की ज़मीन तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। जैसे कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद यह काम कर रहे थे, ठीक उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में भी मदान जैसे चिंतक प्रेमचंद को समझने की एक नई दृष्टि तैयार कर रहे थे। आचार्य शुक्ल जैसा चिंतक, आलोचक भी उस युग के कथा-साहित्य के साथ यदि न्याय नहीं कर पाया, तो इसका कारण प्रतिभा का

अभाव न होकर साहित्यिक अभिरुचियों से जुड़ा है कि उन्हें कबीर की ही तरह, प्रेमचंद भी कोई विशेष प्रभावित नहीं कर सके। प्रेमचंद को उन्होंने समाज-सुधारक, राजनीतिक आंदोलन से प्रेरित साहित्यकार कहकर अपना पल्ला झाड़ लिया; जबकि सच्चाई यह है कि यह प्रेमचंद ही थे जो साहित्य का एक नया सौंदर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र रच रहे थे तथा उसकी प्रासंगिकता पर भी विचार, पुनर्विचार कर रहे थे। प्रेमचंद के बारे में उन्होंने बहुत सटीक टिप्पणी की है—"इनकी जीवन दृष्टि बदलती रही है, इसलिए इनके कथा-साहित्य को कभी समस्यामूलक तो कभी मानवतावादी, कभी सुधारवादी तो कभी गाँधीवादी, कभी प्रगतिवादी तो कभी प्रतिक्रियावादी।"[20] प्रत्येक आलोचक का अपना बना-बनाया, पूर्व निर्धारित खाँचा-साँचा होता है जिसमें वह उसकी कृतियों को ढालने का काम करता है। हरेक के पास अपने-अपने शास्त्र हैं, अपने-अपने खाँचे। साहित्य की ढलाई के ये कारख़ाने नए-नए फ़िट साँचों से चल रहे हैं। हिंदी आलोचना साहित्य की ढलाई के कारख़ाने ही तो हैं। डॉ. मदान ऐसे अकादमिक आलोचकों की अच्छी ख़बर लेते हैं। साहित्य का सबसे बड़ा अहित इन्हीं कारख़ानों में से हो रहा है। जब तक हिंदी आलोचना सृजनशील नहीं होती तब तक उसमें नवाचार आ ही नहीं सकता। आज इस अकादमिक जड़ता को तोड़ना भी ज़रूरी है जो एक बार फिर सिर उठा रही है।

'कृति की राह' का सिद्धांत

किसी कृति को पढ़ने, समझने, मूल्यांकित करने की अलग-अलग पढ़तें, विधियाँ हो सकती हैं, क्योंकि प्रत्येक पाठक या आलोचक उसे अपने ढंग से पढ़ता है। इन विभिन्न पढ़तों से कृति का अर्थ-संसार बदलता रहता है। कृतियाँ नए-नए अर्थों, संदर्भों में संचरित, उद्घाटित होने लगती हैं। प्रत्येक पाठक की जब पढ़त का कोण ही अलग है तो कृति के अर्थों, व्याख्याओं में भी तो अंतर आता रहता है। दिक़्क़त तब होती है जब आलोचक उस कृति पर अपनी दृष्टि लादने की कोशिश करता है, जिससे कृति की अर्थवत्ता बदलती भी है तथा टूटती भी। कोई उसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखता है तो कोई समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से। इस प्रकार विचारधाराओं का आग्रह कृति के लिए ख़तरनाक भी साबित होता है, वरदान भी। कृति के वास्तव को समझने की जगह जब अपने वास्तव में देखने की कोशिश करते हैं तो वह कृति बदल जाती है। मदान जी ने इस पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए कहा है कि हर बाड़े का आलोचक यह स्थापित करता आया है कि उसकी भेड़ बेहतर है, लेकिन उसका निश्चय किस आधार पर किया जा सकता है?"[21] साथ में वे यह भी

स्वीकारते हैं कि आलोचना हिसाब का सवाल भी नहीं है, जिसका एक जवाब दिया जा सके।"[22] इसका अर्थ स्पष्ट है कि साहित्यिक कृतियों का कोई एक बना-बनाया उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक पाठक के लिए वह एक भिन्न अर्थ, संदर्भ रखती है। प्रत्येक पाठक का अपना-अपना परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण होता है। वह जितना अनुभव संपन्न, बहुपठित, भाषाई सामर्थ्य रखने वाला प्रबुद्ध पाठक होगा, उसकी पढ़त, अर्थ-ग्रहण प्रक्रिया, विवेचन-विश्लेषण, मूल्यांकन भी पृथक् होगा। यही भिन्नता है जो साहित्य और आलोचना के लिए शुभ है। दिक़्क़त तब पैदा होती है जब आलोचक कृति का मूल्यांकन अपने-अपने बाड़ों-विचारधारात्मक आग्रहों के साथ करने लगते हैं तथा अपने बाड़े और भेड़ को बढ़िया बताने की कोशिश करते हैं। मदान जी की आलोचना-दृष्टि इन बाड़ों, भेड़ों, वादों, राजनीतिक दलगत भावनाओं, गुटों से मुक्त है। अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने दो टूक शब्दों में यह स्वीकार किया है—"यदि आलोचना को कविता की भाषा में कहने की अनुमति मिल जाए तो केवल इतना कहना है कि मेरी स्थिति एक गड़रिये की है जिसका न तो अपना कोई बाड़ा है और न ही जिसकी अपनी भेड़। इनकी तलाश में भटकना ही मेरी नियति है। आलोचना की दिशाओं को निरूपित नहीं करना है, इन दिशाओं की दिशा का मात्र संकेत देना है।"[23]

हिंदी आलोचना अपने दलगत बाड़ों के कारण ही भटकती रही है। मार्क्सवाद, समाजशास्त्र, रसवाद, रूपवाद, अस्तित्ववाद, सौंदर्यशास्त्र, मनोविश्लेषणवाद, जनवाद न जाने कितने ही बाड़ों, दलों, गुटों में क़ैद रही है। हर बाड़े का आलोचक अपनी भेड़ों (रचनाकारों) को बेहतर मानता आया है। यही कारण है कि आलोचकों ने लेखकों, पाठकों की दृष्टि को भी अपने-अपने बाड़ों में क़ैद कर लिया है। मार्क्सवादी आलोचकों ने मुक्तिबोध पर मार्क्सवादी होने का ठप्पा लगा दिया तो आधुनिकतावादी, अस्तित्ववादी आलोचकों ने अज्ञेय पर आधुनिकता का ठप्पा लगा दिया। इससे बेहद दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा हो गई कि आलोचकों के साथ-साथ लेखकों के भी बाड़े बन गए। आलोचना के नाम पर साहित्य में राजनीति का बाज़ार ख़ूब गर्माया। डॉ. इंद्रनाथ मदान इन ख़ेमों, दलों, बाड़ों, गुटों से खुद को बचाते भी रहे तथा उनके ख़तरों से भी अवगत रहे हैं। यही कारण है कि उनकी आलोचना में उस दौर की राजनीतिक ख़ेमेबाज़ी, बाड़ों की तीखी आलोचना सुनाई-दिखाई पड़ती है। वे आलोचना के इन ख़तरों, अंतर्विरोधों को बख़ूबी पहचान रहे थे कि इससे न तो साहित्य का भला होगा और न ही आलोचक/पाठक समुदाय का। भेड़ों, बाड़ों और गड़रिये का रूपक बहुत ही काव्यात्मक, व्यंग्यात्मक है। व्यंग्य उनकी आलोचना का सबसे तीखा हथियार है। जो कभी प्रतिपक्षी पर होता है और कभी ख़ुद पर। यही उनकी आलोचना-दृष्टि का पैनापन, नयापन है जो उसे सृजनशील बनाता है। अपने समय के दिग्गजों की उन्होंने अच्छी-ख़ासी ख़बर भी ली है। "आलोचक का काम न तो

लेखक पर छत्र झूलाना होता है, न ही उसे सिंहासन पर बिठलाना होता है और न ही उसे सूली पर चढ़ाना होता है। उसका काम असल में कृति को रोशनी दिखाना है, ताकि वह जहाँ तक संभव हो रोशन हो सके।"[24] आलोचना क्या होती है, आलोचक की भूमिका के बारे में जितनी आत्म-सजगता, जागरूकता, संवेदनशीलता डॉ. मदान में थी, वह उनकी टिप्पणियों, तीखी प्रतिक्रियाओं में साफ़-साफ़ दिखाई देती है। एक ईमानदार, समझदार और ज़िम्मेदार आलोचक की हैसियत से वे क़लम चलाते हैं। पूरी बेबाकी, नैतिक विवेक और साहस के अंतर्विरोधों, सत्यों को रेखांकित करते हैं। बड़े-से-बड़े आलोचक की आलोचना करना, उनसे संवाद करना अपना कर्म समझते हैं। यही कारण है कि उनकी आलोचना आलोचकों के अंतर्विरोधों को सामने लाती है। "इधर विज्ञान और अधिकतर नीम विज्ञान ने आलोचना के अनेक बाड़ों की स्थापना की है, अनेक पद्धतियों को जन्म दिया है। वह चाहे भाषा-विज्ञान का बाड़ा हो या मनोविज्ञान का, समाजशास्त्र का हो या मिथकशास्त्र का, कृतिवाद का हो या अनुकृतिवाद का, रूपवाद का हो या वास्तववाद का। इनकी राह से गुज़रकर लगता है कि शास्त्र और वाद ने एक तरफ़ जहाँ नया रास्ता खोला है, वहाँ अपनी सीमा में बंद होकर वह जड़ भी हो गया है। इसी तरह परिभाषाएँ भी सूत्रबद्ध होकर जहाँ कृति की पहचान को उजागर करती हैं वहाँ इसे धुँधला भी बनाती हैं और बना रही हैं। कृति को प्रायः चीज़ बनाया गया है और चीज़ की चीरफाड़ से उसकी पहचान खो जाती है, क्योंकि वह जीवंत होती है।"[25]

डॉ. मदान एक ओर जहाँ विभिन्न शास्त्रों, ज्ञानानुशासनों की प्रशंसा करते हैं कि उनके आलोक में कृतियों को नए संदर्भों में समझने की अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है तो वहीं वे ज्ञानानुशासन, शास्त्र कृतियों पर आरोपण-प्रत्यारोपण भी करते हैं। उसकी असीमता, अनंतता का अंत भी करते हैं। दृष्टि का विकास भी करते हैं तथा उसे धुँधलाते भी हैं। प्रश्न उठता है यहाँ कि दोष उन ज्ञानानुशासनों का है अथवा हमारी उस दृष्टि का जो उन्हें ठीक ढंग से न समझकर, उन्हें आरोपित कर रही है? प्रश्न यहाँ ज्ञानानुशासनों को लागू करने की उस पद्धति पर है जिन्हें साहित्य के कुपढ़ आलोचक नुक़सान अधिक पहुँचा रहे हैं। समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, से 'कृतियों के नए अर्थ तो उद्घाटित हो सकते हैं, लेकिन साहित्य समाजशास्त्र या सौंदर्यशास्त्र तो नहीं होता। समाजशास्त्रीय आलोचना प्रेमचंद के *गोदान* को समझने का एक नया आधार तो अवश्य बन सकती है, लेकिन *गोदान* समाजशास्त्र का ग्रंथ तो नहीं है और न ही वह समाजशास्त्र या मार्क्सवाद के सिद्धांतों को सामने रखकर लिखा गया उपन्यास है। वह तो एक किसान के सपनों का ट्रैजिक अंत है।

डॉ. मदान इन प्रश्नों को बार-बार उठाकर 'कृति की राह' से गुज़रने का जो मशविरा देते हैं कि हम कृति की राह से न भटकें। 'कृति की राह' से गुज़रकर ही कृति को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है न कि शास्त्रों, सिद्धांतों की राह से

गुज़रकर। क्या हमारे अधिकतर समालोचक कृति की राह से न गुज़रकर विभिन्न ज्ञानानुशासनों के इर्द-गिर्द चक्कर नहीं काट रहे? जितना हम कृति की राह से दूर होते जाते हैं, उतना ही हम कृति के वास्तव, उसके अंतर्निहित संसार से भी दूर होते जाते हैं। क्या यही स्थिति हमारे आलोचकों की नहीं है जो *कामायनी*, *गोदान*, अज्ञेय, मुक्तिबोध की कविताओं का पुनर्पाठ करते-करते उसका कुपाठ करने लगते हैं? आलोचना के केंद्र में वहाँ 'कृति न होकर पारिभाषिक अवधारणाएँ होने लगती हैं। डॉ. मदान स्वयं को किसी वाद-विशेष से जोड़कर नहीं देखते। भले ही उनका चिंतन मार्क्सवाद एवं आधुनिकतावाद से प्रभावित रहा है, लेकिन वे किसी भी दल से जुड़कर नहीं चलते—"एक सहृदय आलोचक के नाते वह सब गुटों के साथ हैं और किसी के भी साथ नहीं हैं। इसलिए इनकी आलोचना में ताज़गी है और मौलिकता भी।

डॉ. मदान की समीक्षा का सूत्रपात मार्क्सवाद की शक्तिशाली विचारधारा के अधीन हुआ था। यह इनके विकास का पहला सोपान है। वह मार्क्स के दर्शन को चरम-सत्य के रूप में स्वीकार कर, उससे तादात्म्य स्थापित नहीं करते, परंतु उसकी उपलब्धियों को नकारते भी नहीं है। इनका उद्देश्य लेखक तथा आलोचक की मूल चेतना या दृष्टि को आत्मसात कर, उसका मूल्यांकन करने में लक्षित होता है। इसलिए बड़े-से-बड़े आलोचक की मान्यताओं को चुनौती देने का साहस रखते हैं, परंतु शिष्ट और संयत भाव से।"[26] डॉ. मदान जी की आलोचना दृष्टि पर मार्क्सीय चिंतन का गहरा प्रभाव अवश्य है, लेकिन वे बहुत ही समझदारी के साथ इस विचारधारा, जीवन-दृष्टि का प्रयोग करते हैं तथा बहुत ही सावधानीपूर्वक कृतियों पर विचार करते हुए उसको आधार बनाते हैं। वे उसे जड़ दर्शन या 'परम सत्य', 'ब्रह्म वाक्य', वेद वाक्य, मंत्र पूजा की तरह नहीं अपनाते। जहाँ-जहाँ उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, वहाँ वे उसकी आलोचना करना भी नहीं भूलते। स्वयं को सभी प्रकार के ख़ेमों, गुटों, बाड़ों से मुक्त रखते हुए अपनी चेतना का विकास करते हैं। यही कारण है कि उनकी आलोचनात्मक चेतना में वाद-विवाद-संवाद की सतत प्रक्रिया है। खंडन-मंडन है। उनकी भाषा में वह जीवंतता, ताज़गी और संवादधर्मिता है।

डॉ. मदान की आलोचना-दृष्टि उन बाड़ों, वादों को तोड़ती है जो कृति पर आरोपित होकर उसकी पहचान को विकृत करते हैं। उसे विचारधारा विशेष के बने-बनाए खाँचों, साँचों में ढालकर उसका सरलीकरण, विकृतीकरण करते हैं। डॉ. मदान आलोचना को रूढ़ तथा जड़ होने से बचाते हैं। यही उनकी आलोचना-दृष्टि की मौलिकता है कि पूरा आलोचनात्मक लेख पढ़ जाने के बाद भी पाठक उससे ऊबता नहीं है। रचनात्मक भाषा में लिखे गए उनके आलोचनात्मक निबंध इतने प्राणवान, मौलिक एवं जीवंत हैं कि पाठकीय संवेदना के साथ निरंतर वैचारिक संवाद बनाए रखते हैं। लगभग इसी आलोचना पद्धति का विकास डॉ. नामवर सिंह के आलोचनात्मक निबंधों

में दिखाई पड़ता है। डॉ. मदान निरंतर उन आलोचकों से टकराते हैं जो अपने वैचारिक, विचारधारात्मक आग्रहों को कृतियों पर लादते हैं तथा उनकी मूल पहचान को ही धुँधलाते हैं। उनकी कृति की राह का सिद्धांत केवल सिद्धांत नहीं है, कृति की राह से कैसे गुज़रा जाए, 'कामायनी : एक असफल कृति', 'गोदान : एक त्रासदीय व्यंग्य रचना', अज्ञेय की कविता 'तीन नावों में बार-बार', मुक्तिबोध की कविता 'एक अधूरी कविता जो शायद पूरी से बेहतर है' में से गुज़रकर दिखाते हैं कि 'कृति की राह' से गुज़रना कितना जोखिम-भरा, कठिन, चुनौतीपूर्ण काम है। जब वे कृति की राह में से गुज़रते हैं तो पाठक को उसके भीतरी संसार का परिदृश्य नक़्शा भी दिखा देते हैं कि एक दृष्टि संपन्न आलोचक और सामान्य आलोचक की दृष्टि में क्या फ़र्क़ होता है, कैसे फ़र्क़ होता है और क्यों फ़र्क़ होता है। यही प्रश्नात्मकता उनकी आलोचना को प्रखर बनाती है, पाठक को पुनर्विचार के लिए आमंत्रित करती है, बने-बनाए चौखटों, मान्यताओं, स्थापनाओं को तोड़ती है, नई अवधारणाएँ गढ़ती है, कृति में नए-नए अर्थों, संदर्भों का संधान करती है। कुछेक आलोचकों का मानना है कि वे 'कृति की राह' की बात तो करते हैं, लेकिन कृति की राह बताते नहीं हैं। पिछलग्गू लोगों को दरअसल ऐसे लोगों की ही ज़रूरत होती है जो अंगुली पकड़कर चलना सिखाते हैं। वे मदान जी से भी यही अपेक्षाएँ रखते हैं कि कृति की राह कौन-सी होती है, जो शायद वे उन्हें नहीं दिखा सके!

सृजनशील आलोचना की ज़रूरत

डॉ. मदान आलोचना के शास्त्रीय होने की अपेक्षा उसके सृजनशील होने के पक्ष में थे। उनका मानना था कि शास्त्रीय आलोचना से साहित्य का भला नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें चमत्कारवाद, बौद्धिक विलास एवं पांडित्य प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता—"एक बात धंधे के इस युग में खटकती है कि अब तक प्रेमचंद के समूचे कहानी-साहित्य पर एक भी काम की किताब नहीं निकल सकी है, जिसमें दृष्टिकोण शास्त्रीय न होकर सृजनात्मक हो। आज आलोचना सृजनात्मक होने की गवाही दे रही है, लेकिन 'एकेडिमिक' आलोचक टस से मस नहीं हो रहा है। वह अपने सिद्धांतों से बुरी तरह से चिपका हुआ है, दलबंदी में फँसा है। प्रेमचंद हिंदी कथा-साहित्य के न तो राजा हैं और न ही रंक। इनका कथा-साहित्य साधारण है या असाधारण, इसे आँकना शेष है।"[27]

डॉ. मदान 'एकेडिमिक' आलोचना के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि इसमें सैद्धांतिक स्थापनाओं, पारिभाषिक अवधारणाओं का इतना अधिक घालमेल रहता है कि उसमें

मूल कृति कहीं दब या छिप जाती है और आलोचना भी आलोचना नहीं रह जाती। वह आलोचक का बौद्धिक वाग्विलास बन कर रह जाती है। विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग एकेडिमिक आलोचना के सबसे बड़े कारख़ाने हैं जहाँ से टनों का टन अकादमिक चिंतन नए-नए नामों से निकल कर आ रहा है। सही अर्थों में अकादमिक क़िस्म की हज़ारों पुस्तकें पुस्तकालयों रूपी मालगोदामों में झोंकी जा रही हैं। प्रकाशक उन्हें पूरी तामझाम के साथ प्रकाशित करते हैं, आलोचक-गण पत्र-पत्रिकाओं में उनकी प्रशस्तियों के पुल बाँधते हैं तथा पुस्तक-मेलों में उनके लोकार्पण होते हैं। आज के बाज़ारवादी दौर में यह एक नई तरह का धंधा है जो ख़ूब फल-फूल रहा है। पुस्तक-समीक्षाएँ भी इससे अछूती नहीं हैं।

इंद्रनाथ मदान जब कृति की राह पर चलने की बात करते हैं तो उनका अभिप्राय कृति को पढ़ना, सुनना, उससे बतियाना होता है। पाठक ही पाठ को नहीं पढ़ता, पाठ भी पाठक को पढ़ता है। दोनों में संवाद होता है। जब आलोचक कृति केंद्रित होकर आलोचना नहीं करेगा तो उसका कृति से भटकना, दूर होते जाना भी स्वाभाविक है। कृति में उसकी जितनी गहरी पैठ और पकड़ होगी वह कृति के साथ उतना ही बेहतर संवाद रचा सकेगा। कृति को पढ़कर उसके आभ्यंतरिक संसार में उतरना होता है। उसके एक-एक रग-रेशे को समझना होता है। क्या हमारे आलोचक 'कृति की राह' पर चलना पसंद करते हैं? वे कृति को शास्त्रीय आलोचना में इतना बदल देते हैं कि वहाँ कृति कम, सिद्धांत अधिक बोलने लगते हैं। उनका यह कहना बिल्कुल सही है कि 'हर कृति के अपने-अपने कला नियम होते हैं, हर कथ्य अपना शिल्प खोजता है। इसलिए कविता की राह से गुज़रकर ही इसे अधिक पहचाना जा सकता है।...आरोपित कला-नियमों के आधार पर इसे परखा जा रहा है। यह अपनी आवाज़ को लादकर उसकी आवाज़ को दबाना है। यह शायद पुरानी आदत की मजबूरी है।

आनंदवाद के आरोपित आधार पर *कामायनी* को परखा गया, समाजशास्त्र या मनोविज्ञान के आधार पर आँका गया। और नतीज़ा यह निकला कि इसके अंतिम तीन सर्गों का आरोपित होना प्रायः आँखों से ओझल हो गया। आनंदवाद के आधार पर *कामायनी* का मूल्यांकन इस पर अतिरिक्त आलोक डालता है, समाजशास्त्र या मनोविज्ञान इसकी अनेक परतों को उघाड़ सकता है, लेकिन इसके मूल्यांकन का आधार नहीं बन सकता। ज्ञान-विज्ञान 'कृति क्यों इस तरह है और क्यों इस तरह नहीं है' बता सकता है। इसमें 'क्यों' सहायक कम, बाधक अधिक बनकर आता है। बल प्रायः 'क्यों पर' दिया जाता है। इस प्रकार आरोपित कसौटियों पर जब कृतियों को परखा गया है तो मूल्यांकन कृति विशेष से दूर और आलोचक के निकट होता चला गया, "वस्तुनिष्ठ होने के बजाय आत्मनिष्ठ होता गया है। यदि

क्या, कैसे और किस तरह से किसी आलोचक को सृजनवाद या कृतिवाद की गंध आने लगे तो उसके सूँघने की शक्ति की दाद ही दी जा सकती है और सूँघना देखने से अधिक ठोस और आदिम भी होता है।"[28] डॉ. मदान जी की आलोचना-दृष्टि विभिन्न ज्ञानानुशासनों को महत्त्व तो अवश्य देती है, क्योंकि उनके आलोक में कृतियों को परत-दर-परत उघाड़ा जा सकता है, उसे समझने में एक नई दृष्टि का विकास भी होता आया है, लेकिन जब उन ज्ञानानुशासनों को आरोपित करने (बिना कृति के मर्म एवं संवेदना को पहचानने) की कोशिश की जाती है तो वह साहित्यिक कृति न रहकर आलोचक के आलोचनात्मक प्रतिमान का ही रूप धारण करने लगती है। सवाल यह है कि आलोचक उन प्रतिमानों का प्रयोग किस परिप्रेक्ष्य से कर रहा है, कैसे कर रहा है। उससे कृति की चेतना का विस्तार हो रहा है अथवा आलोचक की छद्म बौद्धिकता का इज़हार हो रहा है? डॉ. मदान फिर सवाल उठाते हैं कि लेखक को किसी मध्यस्थ की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि आरोपित मूल्यांकन ने कवि, कहानीकार, लेखक को यह कहने को विवश कर दिया कि उसके लिए किसी दूसरे की आवश्यकता ही क्या है। उनका मानना है–"यह सही है कि सृजन के क्षणों में दूसरे का सवाल ही नहीं उठता, कवि और कविता में दूसरा हायल नहीं होता, लेकिन सृजन के होते ही कविता या कृति अपने कृतिकार से अलग हो जाती है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व क़ायम हो जाता है। इसके बाद दूसरे का सवाल अपने-आप पैदा हो जाता है। वह इसका फिर से सृजन करता है। वह जितना इसके निकट रहता है, उतनी ही पहचान-परख वस्तुनिष्ठ होती है। इन दोनों में विरोध तो नहीं है, विरोधाभास हो सकता है।"[29]

सृजन के बाद प्रकाशित होकर रचना सार्वजनिक हो उठती है। वह लेखक की निजी चीज़ नहीं रह जाती। पाठक के साथ वह नए-नए रिश्ते बनाती है। पढ़त की प्रक्रिया में वह उसका पुनःसृजन, नव-सृजन भी करता है। उसके ख़ालीपन को भरता है। उसमें नए अर्थ भरता है। इसीलिए तो पाठक/आलोचक को सृजनशील, कल्पनाशील कहा गया है। यह ज़रूरी भी नहीं है कि पाठक लेखक से सहमत हो। वह उस कृति के साथ एक नए प्रकार का संबंध बनाता है। आलोचना में सृजनशीलता तभी आती है जब पाठक, आलोचक उसे पूरी सहृदयता, संवेदनशीलता, कल्पनाशीलता से ग्रहण करता है। इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्र में पाठक को 'सहृदय' कहा गया है। क्या हिंदी आलोचना में यह सहृदयता, कल्पनाशीलता, सृजनशीलता, संवेदनशीलता है? आज ज़रूरत मदान जी की आचोलना-दृष्टि को सही परिप्रेक्ष्य में समझने तथा उसका सार्थक विकास करने की है। 'कृति की राह' में से गुज़रकर ही कृतियों का सही मूल्यांकन, पुनर्पाठ संभव है। यही आज के समय की फ़ौरी ज़रूरत है कि हम कृति और आलोचना के बीच पुनः सार्थक संवाद स्थापित कर सकें जिससे साहित्य, आलोचना और पाठक समाज का भला हो।

संदर्भ :

1. इंद्रनाथ मदान—'आलोचना और आलोचना' (कृति की राह से), पृ. 11.
2. वही, पृ. 11.
3. वही, पृ. 12.
4. वही, पृ. 13.
5. वही, पृ. 13.
6. वही, पृ. 14.
7. वही, पृ. 14.
8. वही, पृ. 14, 15.
9. वही, पृ. 15.
10. वही, पृ. 15.
11. वही, पृ. 11.
12. वही, पृ. 18.
13. वही, पृ. 18.
14. वही, पृ. 19.
15. वही, पृ. 18.
16. वही, पृ. 17.
17. वही, पृ. 165.
18. वही, पृ. 165
19. वही, पृ. 170.
20. वही, पृ. 14.
21. वही, पृ. 15.
22. वही, पृ. 16.
23. वही, पृ. 19.
24. वही, पृ. 19.
25. इंद्रनाथ मदान—'आलोचना और साहित्य', पृ. 7-8.
26. वही, वही, भूमिका से
27. वही, पृ. 82.
28. वही, पृ. 82.
29. वही, पृ. 82.

कृतियों की राह से गुज़रते हुए मदान

एक बड़ा आलोचक वही होता है जो केवल सैद्धांतिक आलोचना द्वारा फ़तवे ही नहीं देता, अपितु अपनी सैद्धांतिक अवधारणाओं को कृतियों पर सही ढंग से लागू भी करता है तथा कृतियों को समझने की एक नई दृष्टि भी प्रदान करता है। इंद्रनाथ मदान ऐसे ही प्रबुद्ध चिंतक, विचारक, आलोचक थे जिन्होंने समस्त वादों, दलगत अवधारणाओं, पूर्वाग्रहों, राजनीतिक खेमेबंदियों से ऊपर उठकर कृति की राह से गुज़रने की बात ही नहीं की, खुद कृति की राह से गुज़रकर भी दिखा दिया कि कैसे कृतियों का अध्ययन, विश्लेषण, अर्थग्रहण किया जाता है। कृति की राह कोई सैद्धांतिक स्थापना-भर नहीं है, कृति-केंद्रित समीक्षा की आवश्यकता क्यों, किस लिए है और वह कैसे की जाती है, इसे भी कर दिखाते हैं। कुछेक आलोचक उनसे यह अपेक्षा रखते रहे कि वे कृति की राह की बात तो करते हैं, लेकिन वह कौन-सी राह होती है यह नहीं बता पाते। दरअसल जिन आलोचकों को रेडीमेड, बनी-बनाई चीज़ें चाहिए उनके लिए कृति की राह भी ऐसी ही कोई चीज़ है। कृति की राह को बताया नहीं जा सकता। यह तो पाठक, आलोचक को वह राह खुद खोजनी पड़ती है जिसे हम पाठक का आत्म-संघर्ष कह सकते हैं।

हिंदी आलोचना ने कृतियों पर गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श करना लगभग छोड़ ही दिया है। पारिभाषिक शब्दावली तथा अवधारणाओं के बोझ तले वह दम तोड़ती नज़र आ रही है। इंद्रनाथ मदान की पहली लड़ाई इन वादों, सिद्धांतों, बाड़ों के विरुद्ध थी। उस दौर की हिंदी आलोचना पर आधुनिकता, मार्क्सवाद, समाजशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र का इतना वर्चस्व था कि बात कृतियों पर होने की बजाय या तो कृतिकार पर ही थी अथवा युगीन परिवेश, युगचेतना, युगबोध पर जिसमें न युग होता था न बोध, सिर्फ़ परिस्थितियों का संकलन-मात्र होता था, वह भी बेहद यांत्रिक, सरलीकृत। हिंदी आलोचना या तो यांत्रिक सरलीकृत होती चली गई या

बेहद बौद्धिक और विचार-बोझिल। इसीलिए उनकी आलोचना में 'कृति की राह' पर अत्यधिक बल है, क्योंकि उस दौर की आलोचना कृति की राह पर न चलकर उसे गुमराह भी कर रही थी तथा कहीं-कहीं भटकने की गवाही भी दे रही थी। यही कारण है कि वे *गोदान, कामायनी*, 'अंधेरे में', 'कितनी नावों में कितनी बार' से लेकर समकालीन कविता तथा आधुनिक साहित्य की विविध विधाओं पर बहुत ही गंभीरता से विचार-विमर्श करते हैं।

इंद्रनाथ मदान आलोचना को कृति-केंद्रित इसलिए करना चाहते थे, क्योंकि कृति से दूर होकर आलोचना भटकने की ही गवाही देने लगी थी। वह चाहे उस समय की मार्क्सवादी आलोचना थी या समाजशास्त्रीय, मनोविश्लेषणवादी आलोचना; सौंदर्यशास्त्रीय, आधुनिकतावादी थी या रसवादी; अस्तित्ववादी थी या रूपवादी, इंद्रनाथ मदान उनके ख़तरों को भी पहचान रहे थे कि कहाँ इनसे कृतियों पर नया आलोक डाला जा सकता है और कहाँ कृतियों की मूल संवेदना को ही दबाया जा रहा है। इन ख़तरों, चुनौतियों के बीच में से उन्होंने 'कृति की राह' का सिद्धांत खोजा जिसे आलोचकों ने कृतिवादी, रूपवादी होने का भी गंभीर आरोप लगाया। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कृति की कोई एक राह होती है जिस पर चला जाए? क्या प्रत्येक पाठक कृति को अपने ढंग से नहीं पढ़ता? क्या कृति में से अनेक राहें नहीं फूटतीं? कृति की पढ़त का सिद्धांत भी यही कहता है कि पाठ कोई जड़, स्थिर, शाश्वत चीज़ तो नहीं है जो प्रत्येक पाठक के सामने उसी रूप में प्रस्तुत हो। प्रत्येक पाठक की अलग पढ़त होती है जो उसमें नवाचार पैदा करती है।

हिंदी आलोचना में नवाचार की जो कमी लंबे समय से महसूस की जा रही है उससे भी इंद्रनाथ मदान बख़ूबी परिचित थे कि कैसे आलोचना अपने दायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन नहीं कर रही। मदान जी के ही शब्दों में कहें तो, 'आलोचना और आलोचना' नाम आलोचनात्मक निबंधों का संकलन मात्र नहीं है, यह केवल आलोचना की निरंतर प्रक्रिया को सूचित नहीं करता, इसमें समकालीन आलोचना की नई दृष्टि भी है जो अब पनप रही है। इसी तरह कृति की राह, जिस पर चलने की कोशिश इसमें मिलेगी, आलोचना के उन बाड़ों, वादों आदि को तोड़ती है जो कृति पर आरोपित होकर इसकी पहचान को धुँधलाते रहे हैं। इसकी राह पर चलकर 'कामायनी : एक असफल कृति', 'गोदान : एक त्रासदीय व्यंग्य-रचना', अज्ञेय की कविता 'कितनी नावों में कितनी बार', मुक्तिबोध की कविता 'एक अधूरी कविता जो शायद पूरी तरह से बेहतर है' और 'समकालीन आलोचना : एक अभिशाप' की गवाही देते हैं। इसमें आलोचना की रूढ़ और एकेडेमिक भाषा को भी बदलने की कोशिश है।"[1] इंद्रनाथ मदान आलोचना के संकट को पहचानते हैं कि कैसे हिंदी आलोचना रूढ़ और अकादमिक भाषा में जकड़ती जा रही है। आलोचकों के

अपने-अपने शास्त्र, सिद्धांत और वाद हैं, जो कृतियों को साँचों में ढाल रहे हैं। आलोचना पारिभाषिक शब्दावली के मकड़जाल बुन रही है जिससे वह जटिल, दुर्बोध, असंप्रेषणीय और विचारशून्य बनती जा रही है। हिंदी आलोचना में वाद-विवाद तो सर्वाधिक है, लेकिन संवाद बहुत कम हैं। ज़रूरत आज आलोचना को संवादधर्मी, संवादोन्मुखी बनाने की है।

कृति को समझने के लिए वे 'कृति की राह' पर चलना ज़रूरी मानते हैं। केवल सैद्धांतिक आलोचना या शास्त्रबद्धता से हम साहित्य की संवेदना को नहीं समझ सकते। वे इसके ख़तरों से भी आगाह कराते हैं कि कृति को समझने के लिए आलोचकों को कृति की राह से गुज़रना ही पड़ेगा। मदान स्वयं कृति की राह से कितना गुज़र सके, अथवा उनकी 'कृति की राह' भी एक वाद या सैद्धांतिक स्थापना ही है, इसे उनकी व्यावहारिक आलोचना से ही पता चल सकेगा कि 'कृति की राह' की बात करने वाला आलोचक खुद कितना उस पर चल सका है। यहाँ हम उनकी विभिन्न साहित्यिक कृतियों पर किए गए आलोचनात्मक लेखन का विश्लेषण, मूल्यांकन करेंगे कि वे इस दिशा में स्वयं कितने सफल हुए हैं।

'गोदान' : एक त्रासदीय व्यंग्य-रचना

डॉ. इंद्रनाथ मदान प्रेमचंद और 'गोदान' पर इतना गंभीर अध्ययन करने वाले पहले आलोचक थे जिन्होंने प्रेमचंद के महत्त्व को रेखांकित किया। प्रेमचंद पर उन्होंने एक अंग्रेज़ी में पुस्तक भी लिखी—*प्रेमचंद : एन इंटरप्रेटेशन* जो देश-भर में चर्चित हुई। लाहौर में चूँकि वे अंग्रेज़ी के प्राध्यापक थे, इसलिए अंग्रेज़ी भाषा पर भी उनका ज़बर्दस्त अधिकार था। वे अंग्रेज़ी से हिंदी में आए थे।

1943 ई. के आसपास जब डॉ. मदान प्रेमचंद के साहित्य पर विचार कर रहे थे तो उस समय हिंदी आलोचना कविता-केंद्रित ही थी। साहित्य के पवित्र मंदिर में कथा-साहित्य का प्रवेश वर्जित समझा जाता था, जिसकी ओर मदान जी ने स्वयं संकेत भी किया है—"आज से क़रीब चौबीस साल पहले (1943) जब मैंने प्रेमचंद के कथा-साहित्य के बारे में कुछ लिखा था तब आलोचक उपन्यास और कहानी को टेढ़ी आँख से देखता था। आचार्य शुक्ल तक ने अपने इतिहास में इनके कथा-साहित्य को इस तरह के दो-चार वाक्य लिखकर संतोष पा लिया—'इनके उपन्यासों और कहानियों में सामाजिक तथा राजनीतिक सुधारों के आंदोलनों का आभास मात्र है। इनमें जहाँ राजनीतिक सुधार या समाज-सुधार का लक्ष्य स्पष्ट हो गया है, वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक का रूप ऊपर आ गया है।' इस

तरह काव्य में रमने वाला आलोचक का मन उपन्यास से भी कविता की आशा रखता है। यह सही है कि शुक्ल ने जब यह लिखा था, तब *गोदान* (1936) उनके सामने नहीं था। यदि इसे देख लेते तो शायद अपनी राय बदल लेने कि बात करना भी उसी तरह बेकार है कि अगर मैं न होता तो ख़ुदा होता।"[2] सही अर्थों में इंद्रनाथ मदान ने जब कथा-साहित्य पर विचार-विमर्श किया तो आलोचना के प्रतिमान भी काव्य-केंद्रित थे और कविता की दृष्टि से ही कथा-साहित्य को आँकने की भूल की जा रही थी। उपन्यास विधा का कोई प्रतिमान, काव्यशास्त्र विकसित ही नहीं हुआ था जिसके आधार पर कथा-साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता। यही कारण है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे चिंतक भी प्रेमचंद के कथा-साहित्य के महत्त्व को समझ नहीं सके। डॉ. मदान ने प्रेमचंद पर अंग्रेज़ी में पुस्तक लिखकर उनकी पहचान को एक व्यापक आधार प्रदान किया तथा वैश्विक स्तर पर प्रेमचंद की एक अलग पहचान भी स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

गोदान के बारे में उन्होंने बहुत ही महत्त्वपूर्ण विचार-सूत्र प्रस्तुत किए हैं—"वह अपनी परंपरा का स्वयं खंडन करते चलते हैं, इनकी आँखों में जैसे-जैसे आँसू सूखते गए हैं, वैसे-वैसे इनकी दृष्टि साफ़ होती गई है। अंत में वह पूरी तरह साफ़ हो सकी या नहीं—यह एक अलग सवाल है। इनकी पत्नी शिवरानी ने जब *गोदान* की पांडुलिपि के अंत में होरी को धराशायी पाया तो वह रो पड़ी और पति को डाँटने लगी कि होरी को क्यों मारा है। लेखक के पास केवल यह जवाब था कि किसान मरा नहीं तो क्या जी रहा है? अगर प्रेमचंद आज भी जीवित होते तो वह होरी को अंत में मार देते। आज भी भारतीय छोटे किसान की यही स्थिति है। उसे उपन्यास में, जिसका अपना संसार होता है, मारने के सिवा और चारा ही क्या है? इसीलिए *गोदान* एक त्रासदीय व्यंग्य-रचना' बन सका है। इसलिए 'कफ़न' विसंगतीय बोध की कहानी बन सकी है और बाप-बेटा ताड़ी के नशे में गिरकर इसका अंत करते हैं। इस संवेदना के कारण हिंदी उपन्यास और कहानी की शुरुआत इनसे करनी पड़ती है।"[3]

गोदान उपन्यास को उन्होंने एक त्रासदीय व्यंग्य-रचना इसलिए माना है कि लेखक ने उपन्यास के अंत में कृषि-संस्कृति के एक छोटे किसान की मृत्यु दिखाई है। आज भी छोटे, मँझोले किसान मर रहे हैं। लाखों किसान आर्थिक तंगी के चलते आत्मदाह कर चुके हैं। सत्ताधारी वर्ग और बुद्धिजीवी ख़ामोश हैं। प्रेमचंद ने तो इस संकट को 1936 में ही भाँप लिया था कि परिस्थितियाँ छोटे किसानों के अनुकूल नहीं हैं। उनका भविष्य असुरक्षित है। इसीलिए प्रेमचंद के किसान पात्र खेती छोड़ते दिखते हैं। 'पूस की रात' का किसान और उसकी स्त्री क्या कहती है? "छोड़ दो यह खेती-वेती! इतना श्रम करने के बाद भूखे तो नहीं मरना पड़ेगा!" एक किसान

का अपने पुश्तैनी धंधे से टूटना! कृषि से मोहभंग। किसान से मज़दूर बनना! एक बहुत ही बड़ी ऐतिहासिक त्रासदी को रेखांकित करना। एक दृष्टि-संपन्न, स्वप्न-द्रष्टा, भविष्य-द्रष्टा लेखक ही ऐसा लिख सकता है। प्रेमचंद के पास एक सही वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि थी। कृषि संस्कृति के संकट को वे बख़ूबी पहचान रहे थे कि अब इस देश में छोटे, मँझोले किसानों का भविष्य सुरक्षित नहीं है। प्रेमचंद के बारे में उनका यह कथन कितना सटीक, अर्थ-गर्भित है—"वह भावुकता से छुटकारा पाने की कोशिश में व्यंग्य का सहारा लेते गए हैं जिनकी गवाही *गोदान* देता है। इसका सृजन किस धरातल पर हुआ है और इसका स्वरूप क्या है—इसकी पहचान 'कृति की राह' से गुज़रकर बेहतर हो सकती है।...प्रायः हर आलोचक ने इसे अपनी-अपनी दृष्टि से आँकने की कोशिश की है और इस कोशिश में वह अपने पास और उपन्यास से दूर होता गया है—कितना कम और कितना अधिक का जवाब उसकी आलोचना में मिल सकता है।

एक आलोचक इसे कविता की आँख से देखता है, दूसरा व्यष्टि-समष्टि की दृष्टि से, तीसरा आधुनिकता के स्वीकार-अस्वीकार के धरातल पर, चौथा महाकाव्य के रूप में, पाँचवाँ गाँधीवाद से मोहभंग के स्तर पर, छठा धन के दुश्मन की निगाह से, सातवाँ ऋण की समस्या की दृष्टि से, आठवाँ मरजाद के सवाल को लेकर, नवाँ करुण रस के आधार पर, दसवाँ अपने युग की प्रणय-गाथा और आने वाले युग की प्रसव-पीड़ा के रूप में आँकता है। एक ही उपन्यास जब इतने संकेत छोड़ जाता है तब इतना तो इसके बारे में कहा जा सकता है कि इसमें कुछ है जो अनजाना और अनपहचाना रह जाता है, या आलोचक अपनी आवाज़ को इतना उठा देता है कि उपन्यास की आवाज़ इसके नीचे दबकर रह जाती है।"[4] इस प्रकार 'गोदान' को लेकर यदि आलोचकों में इतनी दृष्टिगत भिन्नताएँ हैं तो यह बात समझ में आती है कि एक कृति को अलग-अलग कोणों से देखने का जो नज़रिया है वह उसमें पुनर्पाठ की संभावनाएँ तो पैदा करता ही है कि एक ही कृति को कैसे अलग-अलग दृष्टिकोणों से पहचाना जाए। इस दृष्टि से आलोचना में नवाचार भी आता है, पुनर्पाठ भी होता है और कभी-कभी पुनर्पाठ के साथ-साथ कुपाठ का ख़तरा भी पैदा हो जाता है। डॉ. मदान इन ख़तरों से बार-बार आगाह कराते हैं कि कृति से दूर होने का अर्थ है उस पर अपनी विचारधारा को लादना। उसके मर्म को दबाना और कृति की संवेदना की हत्या करना। क्या हमारी आलोचना यही काम नहीं कर रही जिसकी ओर संकेत डॉ. मदान बार-बार करते हैं?

इंद्रनाथ मदान *गोदान* में जिस व्यंग्यात्मक त्रासदी, विडंबना को रेखांकित करते हैं उसे समझना ज़रूरी है कि कैसे *गोदान* व्यंग्यात्मक त्रासदी का पाठ बनने लगता है—"बड़े आदमी अपनी लाज न रखें, छोटों को तो इनकी लाज रखनी पड़ती है।

झुनिया के पेट में गोबर की अवैध संतान की सूचना पाकर धनिया जब बिगड़ उठती है तो वह होरी को इसका संकेत व्यंग्य की भाषा में इस तरह देती है—'बात ही ऐसी हुई है कि छाती दुगुनी हो जाय।' इस तरह व्यंग्य कभी शब्द का है तो कभी उक्ति का, कभी स्थिति का है तो कभी घटना का। 'देखो तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ मत उठाना'—स्थिति का व्यंग्य है। अगले दृश्य में होरी कथा इसी स्तर पर चलती है। इसमें भी व्यंग्य के विविध रूप हैं। इनका आधार कभी तो जीवन की विडंबना है तो कभी सामाजिक विधान की विषमता। दातादीन का लड़का मातादीन चमारिन को रख सकता है, लेकिन होरी का बेटा झुनिया को नहीं रख सकता। इसका कारण है कि दातादीन तिलक लगाता था, पोथी-पन्ने बाँचता था। कथा भागवत कहता था। स्नान-पूजा से उसके पाप तो धुल जाते हैं, लेकिन गोबर के नहाने से उसका पाप नहीं धुल सकता। होरी को अपनी जात-बिरादरी से बाहर निकाला जाता है, उसे दंड दिया जाता है। इन दोनों स्थितियों को आमने-सामने रखने से जब व्यंग्य की धारा बहने लगती है तो वह पाठक की संवेदना के गहरे में धँसकर उसे झकझोरती है।"[5]

गोदान सही अर्थों में गहरे में व्यंग्य कथा ही है कि दातादीन का बेटा दलित स्त्री को रख सकता है, क्योंकि वह उच्च जाति का है और होरी का बेटा गोबर बिरादरी से खदेड़ा जाता है, क्योंकि वह उच्च जाति का नहीं है। हमारी दंड-व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। दातादीन ब्राह्मण है, इसलिए उसके पाप-कुकर्म धुल सकते हैं, लेकिन होरी के पाप नहीं धुल सकते और उसे अस्सी रुपये में अपना घर रेहन रखना पड़ता है। होरी धनिया से लड़-झगड़कर उस दुःख से भी मुक्ति पा लेता है—"अस्सी रुपये गए तो गए, लाख रुपये का बालक तो मिल गया (गोबर का बेटा) उसे तो कोई छीन न लेगा।" इस व्यंग्यात्मक कथन के साथ दृश्य परिवर्तित होता है। आलोचक ने गोबर की शहर जाने की स्थिति को भी गहरे व्यंग्य में देखा है कि वह शहर जाकर मानो इतना संपन्न हो जाएगा कि कुल की समस्त समस्याओं का निदान कर देगा। "गोबर उसकी बाँह पकड़कर उसे घर में छोड़कर शहर को चल देता है, अब वह पैसे कमाकर कुल का तिलक बन कर लौटेगा। इसके सपनों के चित्रण में व्यंग्य की गहरी छाप है।"[6]

प्रश्न उठता है कि क्या गाँव से शहर की ओर जाने से किसानों और उनकी संतानों की मुक्ति होगी? आज पूरे भारत में गाँवों के गाँव यदि ख़ाली होते जा रहे हैं, उनकी संतानें रोटी-रोज़ी या बेहतर भविष्य की तलाश में शहरों, महानगरों में कूच कर रही हैं तो उनकी आर्थिक स्थिति कितनी बदली है? आज पूरे देश में इतने विशाल स्तर पर किसानों, होरी पुत्रों का विस्थापन हो रहा है, वह क्या इस संकट की ओर संकेत नहीं करता? क्या इससे हमारी कृषि-व्यवस्था, मरजाद टूट नहीं

जाएगी? क्या यह गाँधी, प्रेमचंद के सपनों का देश है? शहरों, महानगरों में विस्थापितों की निरंतर बढ़ती हुई तादाद क्या सूचित करती है? क्या इससे हमारी कृषि-व्यवस्था, किसानों का पुश्तैनी धंधा नष्ट नहीं हो जाएगा? क्या यह किसान के बँधुआ मज़दूर हो जाने की व्यंग्य कथा नहीं है? गोबर की आँखों में सपना है कि शहर जाकर, मेहनत-मज़दूरी करके अपने कुल के समस्त पापों, क़र्ज़ों को उतार फेंकेगा, लेकिन क्या वह फेंक पाया? मदान जी ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—"गोबर का एक तरफ़ शेख़ी बघारना और दूसरी तरफ़ उसकी ग़रीबी का हद से पार हो जाना—इन दोनों में गहरे पाट को भरने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया गया है। सबसे पहले वह एक पछाई गाय लाएगा जो चार-पाँच सेर दूध देगी और दादा से कहेगा—तुम गऊमाता की सेवा करो, इससे तुम्हारा लोक भी बनेगा, परलोक भी।" एक किसान का मजूरी करने के लिए मज़दूर हो जाना मरजाद से गिरना है, लेकिन गोबर के लिए जीना मरजाद से बड़ा है। इसे कहने में किसानी जीवन का जो अंतरंग परिचय दिया गया है उस पर लेखक की गहरी पकड़ का बोध होता है।"[7]

यह एक किसान के मज़दूर में रूपातंरित हो जाने की व्यंग्य कथा है। गोबर की आँखों में जो किसान की समृद्धि का सपना है, एक पछाई गाय को पाने का, वह कितना फलीभूत हो पाया इसका आभास तो उपन्यास का ट्रैज़िक अंत देता ही है, लेकिन इसमें गाँवों से विस्थापन की जिस समस्या को लेखक ने अपनी गहरी दृष्टि से उभारा है, वह किसानों की आज की भयावह स्थिति पर भी रोशनी डालता है। होरी का पुत्र गोबर शहर और गाँव की कथा को मिलाने वाली कड़ी है जो गाँव और नगर की कथा में अन्विति पैदा करती है। मदान गोदान की गाँव और नगर कथा में बिखराव नहीं देखते, बल्कि उसमें गहरी अन्विति देखते हैं। नगर कथा के माध्यम से वे समाज के सुसभ्य, संभ्रांत वर्गों का मनोविश्लेषण कर रहे थे कि वहाँ की दुनिया के अंतर्विरोध क्या हैं? उन्होंने गाँव कथा को संवेदन के स्तर पर और नगर कथा को चिंतन के धरातल पर देखा है—"गाँव कथा का सृजन संवेदना के स्तर पर है और नगर कथा की रचना-चितंन के धरातल पर है। इसमें मेहता, मालती आदि के जो चरित्र हैं वे लेखक की धारणाएँ मात्र हैं। मिस मालती मसलन आधुनिक नारी की धारणा ही कही जा सकती है। मेहता और मालती का आपसी संबंध भी साथीपन की धारणा को लिए हुए है जो आगे चलकर आलिंगन, चुंबन के दायरे से निकल कर शादी में परिणत नहीं होता। मेहता की नारी संबंधी धारणा कभी-कभी तो मध्यकालीन बोध को तो कभी आधुनिक बोध को लिए है।"[8]

गोदान की नगर कथा और गाँव कथा को आलोचकों ने चिपकाया हुआ है। क्या ये दोनों चिपकाई हुई संस्कृतियाँ हैं जिनमें परस्पर कोई सह-संबंध ही नहीं है? आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी का उदाहरण देते हुए मदान लिखते हैं—"उपन्यास के

नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खंडों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम संपर्क है। वे कभी आते-जाते मिल लेते हैं, और कभी-कभी किसी बात पर झगड़ा भी कर लेते हैं, परंतु न ही उनके मिलने या झगड़ने में ही कोई संबंध स्थापित होता है जिसे स्थाई कहा जा सके।"[9] इंद्रनाथ मदान नंददुलारे वाजपेयी के इस विश्लेषण से असहमत हैं कि गाँव कथा और नगर कथा एक-दूसरे से असंपृक्त है। उनमें परस्पर कोई संबंध नहीं है। मदान जी के अनुसार—"क्या दो खंडों में रहने वाले दो परिवार बाहर से कटे हुए और भीतर से व्यवस्था के स्तर पर जुड़े हुए नहीं हैं? इसका जवाब उपन्यास ही दे सकता है। आलोचक ने वक्तव्य देना ही काफ़ी समझा और यह बताने की कोशिश नहीं की कि किन स्थलों पर दोनों जीवन एक-दूसरे से टूटे हुए हैं...इस तरह के बड़े उपन्यास में, जो कि एक विशाल भवन की तरह है, छोटी-छोटी दरारों का पड़ जाना विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि दरारें बड़ी-बड़ी हों तो बात दूसरी है।"[10]

मदान जी की आलोचना-दृष्टि प्रेमचंद पूर्ववर्ती पढ़तों को भी सामने रखती है कि किस आलोचक ने किसी कृति के बारे में क्या कहा है, उसे सामने रखकर फिर वे उसका मूल्यांकन करते हैं कि उस कृति के बारे में दिए गए विचार कितने सही हैं। एक निर्णायक की तरह निर्णय देते हुए भी और निर्णयों से बचते हुए भी। यही कारण है कि *गोदान* पर दी गई तमाम आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं को वे सामने लाते हैं कि रामविलास शर्मा ने इसे ऋण की समस्या से देखा है तो नंद दुलारे वाजपेयी जी ने कथा की अन्विति दोष के रूप में—"इस तरह *गोदान* की आलोचना की राह से गुज़रकर इतना तो साफ़ हो जाता है कि इसके अनेक पहलुओं को उजागर करने में इसका मूल्यांकन कितना कृति के पास है और कितना इससे दूर। एक सीमा तक समाजशास्त्रीय पद्धति इस उपन्यास पर रोशनी तो डाल सकती है, लेकिन वह इसके मूल्यांकन का आधार शायद नहीं बन सकती। इसकी रोशनी डालने की वजह यह हो सकती है कि उपन्यास में जिस जीवन वास्तव का चित्रण है, वह इसके बाहर के वास्तव से गहरे स्तर तक जुड़ा हुआ है। इस तरह के आलोचकों की क़तार लंबी है। इसमें डॉ. रामविलास शर्मा, श्री मन्मथनाथ, डॉ. राजेश्वर गुरु, डॉ. सुषमा धवन, डॉ. गंगा प्रसाद विमल, गोपाल कृष्ण कौल आदि को शामिल किया जा सकता है, जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से *गोदान* के उस पहलू पर बल देते हैं जो सामाजिक चेतना, युग चेतना, सामंती विधान, पूँजीवादी विधान आदि के विश्लेषण को लिए हुए हैं।"[11] डॉ. मदान के अनुसार, उपन्यास और समाजशास्त्र में अंतर होता है। उपन्यास समाजशास्त्र के नियमों, सिद्धांतों का पूरी तरह से पालन करे यह अनिवार्य नहीं। दिक़्क़त तब पैदा होती है जब समाजशास्त्रीय चिंतक उसे अपने बने-बनाए सिद्धांतों की कसौटी पर परखने लगता है। आलोचक

जब अपनी आलोचनात्मक अवधारणाओं को लेखक की कृति पर थोपने लगता है तो बड़ी दिक़्क़त खड़ी होती है कि वह एक साहित्यिक कृति है न कि इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र का कोई ग्रंथ। मदान जी के अनुसार, "इसमें अनेक स्थल इस तरह के हो सकते हैं और हैं जो बाहर लटके रह जाते हैं, लेकिन नगर और देहात दोनों का समावेश इसे शक्ति और विस्तार देता है और अटानोमी सिद्धांत की कसौटी पर इसे परखना या अन्विति के आधार पर इसे आँकना उपन्यास से दूर होने का ख़तरा मोल लेना है।"[12] मदान आत्मालोचना भी करते हैं, जब उन्हें अपनी धारणाओं में असंगतियाँ दिखाई देने लगती हैं अथवा कोई आलोचक उनकी कड़ी आलोचना करता है तो वे उसे सहजतापूर्वक स्वीकारते भी हैं।

'गोदान' : पुनरावलोकन : पुनर्पाठ

एक बड़ा आलोचक वही होता है जो समय-समय पर अपनी धारणाओं पर भी पुनर्विचार करता है तथा ज़रूरत पड़ने पर वह आत्मालोचना की प्रक्रिया से भी गुज़रता है। अपनी स्थापनाओं, धारणाओं को रद्द भी कर देता है। अपनी सोच को परिवर्तित, संशोद्धित, परिमार्जित, परिष्कृत भी करता है। *गोदान* के संबंध में ऐसा ही होता है कि वे अपनी पूर्ववर्ती धारणाओं को बदलते नज़र आते हैं। हालाँकि प्रेमचंद के महत्त्व को पहचानने वाले आलोचक भी मदान ही थे। बाद में मदान जी ने अपनी *गोदान* से संबंधित धारणाओं को भी बदला—"सबसे पहले डॉ. मदान अपनी दृष्टि को उपन्यास पर आरोपित करते हुए अन्विति के आधार पर यह कहते हैं कि *गोदान* में नगर कथा इसका अभिन्न अंग नहीं है, बाहर की चीज़ है और बड़ी आसानी से इसे उपन्यास से निकाला जा सकता है। इसके बारे में लेखक को एक पत्र भी दिया गया जब वे बीमार थे (1936)। इनका मत था कि उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण जो किसानों के जीवन से जुड़ा हुआ है, कथानक की गठन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अधिक सफल है। इसमें स्वर या ध्वनि की अन्विति या संबद्धता है।"[13] मदान जी के ही अनुसार, "इस धारणा में उपन्यास नहीं, आलोचक बोल रहा है जिसको शिकायत है कि *गोदान* इस तरह क्यों है, इस तरह क्यों नहीं है। आलोचक ने बाद में अपनी भूल का सुधार भी किया है।"[14]

एक आदर्श आलोचना वही होती है जो अपनी ही भूलों का गहन आत्मविश्लेषण, आत्मावलोकन, आत्मसाक्षात्कार करे। आत्मावलोकन के बिना आत्मालोचना संभव ही नहीं है। नगर कथा और गाँव कथा को अलग-अलग करके देखना कृति को

उसकी समग्रता, संश्लिष्टता को तोड़ना होगा। प्रेमचंद तो इसके माध्यम से क्षेत्रीय असमानताओं को उभार रहे थे कि कैसे इस देश का आंतरिक विभाजन होता जा रहा है। मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के बीच तथा शहर और गाँव के बीच जो फाँके हैं उन्हें वे इस उपन्यास के माध्यम से सामने ला रहे थे।

डॉ. मदान के अनुसार, प्रेमचंद मेहता और मालती की प्रेमकथा के अंतर्विरोधों को उस समय के मध्य वर्ग के अंतर्विरोधों के रूप में पहचान रहे थे कि कैसे मध्य वर्ग का नज़रिया एक ओर सामंती संस्कारों में और दूसरी ओर आधुनिकता-बोध लिए है। मेहता मालती को प्रेम, मनोरंजन के लिए तो उपयुक्त मानता है, लेकिन वैवाहिक जीवन के लिए नहीं। क्या यह हमारे शिक्षित मध्य वर्ग, नव मध्य वर्ग की विडंबनामूलक स्थिति नहीं है जो एक ओर सामंती मूल्यों और दूसरी ओर आधुनिक मूल्यों की संवाहक है? मालती जो कि 'हसीन है, ख़ुशमिज़ाज है, समझदार है, रोशन-ख़्याल है, और भी उसमें ख़ूब ख़ूबियाँ हैं, लेकिन मैं अपनी जीवन-संगिनी में जो बात देखना चाहता हूँ, वह शायद उसमें नहीं है और न शायद हो सकती है।"[15] प्रेमचंद उस समय के मध्य वर्ग की चेतना में निहित उन दरारों, विसंगतियों को पहचान रहे थे कि नगरों में रहने वाला यह सर्वाधिक शिक्षित वर्ग स्त्री के प्रति किस प्रकार उपभोगमूलक दृष्टिकोण रखता है कि 'वह हसीन', ख़ुश-मिज़ाज, समझदार, रोशन-ख़्याल और बहुत-सी ख़ूबियों, गुणों से भरपूर तो है, लेकिन वह उसकी जीवन-संगिनी नहीं हो सकती। प्रश्न उठता है कि ऐसी समझदार, रोशन ख़्याल स्त्री उसकी पत्नी क्यों नहीं हो सकती? शायद इसलिए कि समझदार, रोशन ख़्याल होना उसके पुरुषत्व (वर्चस्व) के लिए ख़तरा है? क्या इसका अर्थ यह लगा लेना चाहिए कि प्रेमचंद को नगर-कथा यानी पढ़े-लिखे मध्य वर्ग की चेतना का ज्ञान नहीं था? ग्राम कथा में निपुण थे, लेकिन नगर कथा को वे उस संवेदन की गहराई तक निभा नहीं सके? इंद्रनाथ मदान पुनः प्रश्न उठाते हैं—"क्या यह परिणाम निकाला जाए कि नगर-कथा को कहना लेखक को आता नहीं या नगर-कथा उपन्यास में एक विषम स्वर है? इस स्तर पर परिणाम आसानी से निकाला जा सकता है, लेकिन क्या वह स्वयं निकलता है? शायद अभी नहीं। यह इसलिए कि अभी *गोदान* की राह लंबी है।"[16] जो आलोचक मालती को आधुनिका नारी समझते हैं, मालती की नारी दृष्टि में भी प्रेमचंद ने असंगतियाँ दिखाई हैं जो औसत भारतीय स्त्री की असंगतियाँ हैं—"मालती अब मेहता को देवता समझती है, हरेक बात में उस आदमी से सलाह लेने की सोचती है, उसके चरणों के नीचे आँखें बिछाने की बात करती है और उसके इशारों पर आग में कूदने को तैयार हो जाने का दावा करती है।"[17]

प्रेमचंद तो मालती के माध्यम से उस समय की मध्यवर्गीय पढ़ी-लिखी नारी का यथार्थ प्रस्तुत कर रहे थे जो अपने 'मध्यकालीन संस्कारों और आधुनिका' होने

के बीच कहीं झूल रही थी। प्रेमचंद ने मालती की तस्वीर भी अंत में एक मित्र के रूप में उतारी है और शायद उस युग के लिए एक नई धारणा थी। इसलिए शायद इतिहासवादी आलोचक मालती को एक आधुनिकता के रूप में आँकने लगते हैं।"[18] इस धारणा को मदान चिंतन के स्तर पर मानते हैं, संवेदना के स्तर पर नहीं। "संवेदना के स्तर पर धनिया है, झुनिया है, सिलिया है और दुलारी है जो होरी कथा में हैं।"[19] इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेमचंद जो तादात्म्य धनिया, झुनिया, सिलिया, दुलारी के साथ स्थापित कर पाते हैं, वह नगरीय संस्कृति के स्त्री चरित्रों से नहीं। वहाँ चिंतन के स्तर पर तादात्म्य है और यहाँ भावनाओं के स्तर पर! यहाँ भी डॉ. मदान चिंतन के स्तर पर तादात्म्य और संवेदना के स्तर की बात उठाकर प्रेमचंद के नगर-कथा प्रसंग को कमज़ोर समझ का परिणाम बता ही देते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या प्रेमचंद को इस शहरी संभ्रांत मध्य वर्ग के वर्गगत अंतर्विरोधों का ज्ञान नहीं था? क्या मेहता हमारे उस पढ़े-लिखे चिंतनशील वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता जो आज भी विभिन्न स्त्रियों के साथ अपने मैत्री संबंध स्थापित करता है? मेहता *गोदान* का ही चरित्र नहीं है, अपितु इक्कीसवीं सदी के उस चिंतनशील वर्ग का भी प्रतीक है जो आज भी मालती के प्रेयसी रूप का ही प्रशंसक है। रोशन-ख़्याल, समझदार, स्त्रियाँ उन्हें डराती हैं। उनके वर्चस्व के लिए ख़तरा भी हैं और चुनौती भी। इसीलिए मालती उसके लिए प्रेयसी तो हो सकती है, पत्नी कदापि नहीं। प्रेमचंद तो उन मध्यवर्गीय विरोधाभासों को सामने ला रहे थे, जिसकी सही समझ के अभाव में आलोचकों ने उनकी नगर-कथा पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिए। क्या इसके लिए भी प्रेमचंद की दृष्टि को दोषी ठहराया जाना चाहिए? प्रेमचंद तो उन अंतर्विरोधों को उभार रहे थे जो उस समय के मध्य वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग (नगर-कथा) के प्रचंड अंतर्विरोध थे।

बुद्धिजीवी वर्ग की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि वह आत्मालोचना से डरता है। यह उसके अपने भीतर का भय है। मेहता के अंतर्विरोधों में उसे अपने अंतर्विरोध दिखाई पड़ते हैं। अपनी आत्मालोचना करने का नैतिक साहस भी उसमें कहाँ है? इसीलिए मेहता के अंतर्विरोधों पर विचार नहीं होता। इसे प्रेमचंद की दृष्टिसीमा समझ लिया जाता है कि गाँव-कथा में यह अनुभूति, संवेदना के स्तर पर है और नगर-कथा में चिंतन के स्तर पर। इंद्रनाथ मदान भी आलोचना में ऐसी भूलें कर जाते हैं। उनका कहना है—"खन्ना, खुरशेद, ओंकारनाथ, राय साहब, मिर्ज़ा साहब, मालती और मेहता की बहस में कभी नीरसता है तो कभी कविता और व्यंग्य के छींटे हैं, कभी तितलियों का विरोध है तो कभी देवियों की पूजा, कभी सेवा की बात है तो कभी अहिंसा की, जिससे बदलते युगबोध का परिचय मिल जाता है, लेकिन रचना की दृष्टि से भारी मोल भी चुकाना पड़ता है।"[20] ज़ाहिर है ग्रामीण

लोगों के संवाद इतने लंबे-चौड़े, नीरस उबाऊ नहीं होते। नगरीय संस्कृति के पढ़े-लिखे लोगों के संवाद, तकरीरें, बहसें इसी तरह की होती हैं। क्या प्रेमचंद उस समय के भारतीय मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग के मनोविज्ञान से परिचित नहीं थे कि यह वर्ग क्या है? उसकी चेतना की बुनावट क्या है? मेहता-मालती प्रसंग को उन्होंने जितनी सूक्ष्मता से उभारा है वह उनकी बुद्धिजीवी वर्गों के प्रति तीखी आलोचनात्मक दृष्टि है। बुद्धिजीवी वर्ग जिसका प्रतिनिधित्व मेहता-मालती करते हैं क्या इसी द्वंद्वग्रस्त मानसिकता का शिकार नहीं है? पुरुष मनोविज्ञान को भी प्रेमचंद मेहता के माध्यम से उभारते हैं कि उसे मालती का आकर्षण, सौंदर्य, विद्वता तो प्रभावित करती है, लेकिन वह उसे अपनी जीवन-संगिनी के रूप में स्वीकारने में घबराता है। ऐसी प्रखर नारियाँ उसे चुनौती देती हैं। इसीलिए वहाँ अस्वीकार भी है। हाँ, जहाँ तक मैत्री संबंधों का प्रश्न है मेहता उसे एक साथी, मित्र के रूप में ही देखना चाहता है। यह शायद प्रेमचंदकालीन मध्यवर्ग की द्वंद्वग्रस्त, दुविधाग्रस्त सोच रही होगी, जिसे दिखाना, उभारना प्रेमचंद नहीं भूले हैं। पुनर्पाठ के स्तर पर *गोदान* को यदि पढ़ा जाए और पूर्ववर्ती पढ़तों को सामने रखा जाए तो एक बात अवश्य सामने आती है कि आलोचक अभी इस 'कृति की राह' से ठीक ढंग से गुज़रे नहीं। कृति की राह कभी बंद नहीं होती। प्रत्येक पाठक आलोचक अपने ढंग से उसकी राह में से गुज़रता है, उसे पढ़ता और उसे नए अर्थ प्रदान करता है। पाठ को बार-बार अपनी पढ़तों द्वारा उसे खँगालता और उसकी संवेदना को पहचानता, परखता है।

अभी भी *गोदान* का पुनर्पाठ ज़रूरी है। इंद्रनाथ मदान जब *गोदान* को एक 'त्रासदीय व्यंग्य रचना' कहते हैं तो वह भी उसका अंतिम अर्थ या विश्लेषण नहीं है। यह सही है कि व्यंग्य की विविध छटाओं को वे *गोदान* के वाक्यों, उद्धरणों द्वारा स्पष्ट करते चलते हैं कि वहाँ व्यंग्य किन-किन रूपों में आता है, कैसे आता है, लेकिन *गोदान* केवल व्यंग्य-रचना ही तो नहीं है। मदान जी के अनुसार—"होरी का यह कहना कि मालिक के पाँवों के तलवे सहलाने में ही कुशल इसलिए है कि इनके पाँवों के तले उसकी गरदन दबी हुई है। यह व्यंग्य-बाण चाहे छोटा है, लेकिन गहरा घाव कर जाता है। इसके दूसरे सफ़े पर होरी धनिया के विनोद में व्यंग्य का पुट है। धनिया उसके पहनने के लिए पोशाक लाई है और वह आँखें तरेर कर कहता है—"क्या ससुराल जाना है, जो पाँचों पोशाक लाई हो। ससुराल में भी तो जवान साली सहलज नहीं बैठी है, जिसे जाकर दिखाऊँ।" वह चालीस साल का है। धनिया उसे बूढ़ा होने का ताना देती है और इसके जवाब में होरी का यह कहना कि मरद साठे पर पाठे होते हैं उक्ति का व्यंग्य है जो बाद में त्रासदीय का करुण रूप धारण कर लेता है—'साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पाएगी धनिया। इसके पहले ही चल देंगे।' यह अंत में जब सच निकलता है तो इसे त्रासदीय विडंबना ही कहा जा

सकता है—अनागत का अनायास बोध।"[21] मदान जी की आलोचना-दृष्टि *गोदान* के उन मर्मस्पर्शी वाक्यों, उक्तियों, कथनों में छिपी व्यंग्यात्मकता को कितनी सूक्ष्मता से पकड़ती है, लेकिन जीवन के वास्तव और अनागत के सत्य को कैसे उभारता है। प्रेमचंद को भी इस बात का अहसास था कि ज़िंदगी का अनवरत संघर्ष, कठिन श्रमसाधना, सृजनशीलता उन्हें साठ तक नहीं पहुँचने देगी। यह होरी का ही सच नहीं, प्रेमचंद का भी सच था। उनके जीवन का दहकता हुआ सच! उनके जीवन-संघर्ष के बारे में मदान जी ने बहुत सही कहा है—"प्रेमचंद ने स्वयं मृत्यु-पर्यंत काम किया। जीविकोपार्जन कठिन कार्य था। अपने परिवार का पालन करना और दो-दो पत्रों को चलाना इतना आसान नहीं था। वे उनके रक्त की अंतिम बूँद के ग्राहक थे। उनकी पत्नी उनसे आराम करने को कहती थीं, परंतु वे समझते थे कि बिना कठिन परिश्रम के जीवन निष्क्रिय और निरर्थक हो जाएगा। वे मधुमक्खी की भाँति जीवन-भर व्यस्त रहे। उनका स्वास्थ्य नाजुक था, उनका शरीर दुबला-पतला और भोजन पौष्टिक तत्त्वों से हीन था। प्रकृति की बार-बार चेतावनियों के बावजूद वे घोर श्रम में डूबे रहे। वे सोचते थे कि कठिन परिश्रम के बाद वे अपने बुढ़ापे के दिन गाँव में बिताएँगे, जहाँ उन्हें निर्धन और अशिक्षित ग्रामीणों की सेवा के लिए पर्याप्त अवसर मिलेगा, यह उनके जीवन का सपना था।"[22]

प्रेमचंद का जो जीवन-संघर्ष है वह एक संघर्षशील, परिवर्तनकामी व्यक्ति का आत्म-संघर्ष है। आत्म-संघर्ष ही वह शक्ति है जो व्यक्ति को जन-संघर्षों, रचनात्मक कामों से जोड़ती है तथा उसके चिंतन और सृजन का विकास भी करती है। प्रेमचंद का एक एक्टिविस्ट होने का सपना पूर्ण नहीं हो पाया। धनिया को वे कहते हैं—'साठ तक पहुँचने की नौबत ही नहीं आएगी धनिया! उससे पहले ही चल देंगे! उनकी अनागत की बात सच साबित हुई, क्योंकि निरंतर बिगड़ता जा रहा स्वास्थ्य, साधनों, पौष्टिक तत्त्वों का अभाव, जीवन का ज़बर्दस्त संघर्ष, कठिन परिश्रम उन्हें जीवन की बलि वेदी तक ले गया। प्रेमचंद कभी विपरीत स्थितियों में निराश या हताश नहीं हुए। यह विचार दृष्टि उन्होंने गाँधी जी के सान्निध्य में आकर सीखी। कठिन साधना! आज कितने ऐसे लेखक हैं जिनमें प्रेमचंद जैसी विराट् जीवन-दृष्टि और आत्म-संघर्ष है? प्रेमचंद के बारे में इंद्रनाथ मदान का यह कथन कितना महत्त्वपूर्ण है—"वे इस बात से प्रसन्न थे कि उनका भाग्य ग़रीबों के साथ बँधा है। उन्होंने लेखकों को चेतावनी दी कि जो धन की खोज में हैं उन्हें सरस्वती के मंदिर में कहीं स्थान नहीं मिल सकता। वे शायद ही कभी धन और यश के लोभ में आए हों। एक बार परिस्थितियों से बाध्य होकर उन्होंने सीनेरियो-लेखक के रूप में अच्छे वेतन पर एक सिनेमा कंपनी में काम करना आरंभ किया था, लेकिन शीघ्र ही वे उससे ऊब आए। कला को व्यवसाय का रूप देने से उन्हें घृणा थी।"[23] एक

साहित्यिक व्यक्ति के लिए सिनेमा में कोई स्थान नहीं है। मैं इस लाइन में इसलिए आया कि मुझे इसमें आर्थिक दृष्टि से संपन्न होने के कुछ अवसर दिखाई दिए। लेकिन अब मैं देखता हूँ कि मैं भ्रम में था और फिर साहित्य में लौट रहा हूँ।"[24] प्रेमचंद ने ऊबकर सिनेमा जगत् से संबंध विच्छेद कर लिया और अपने जीवन के शेष दो वर्ष साहित्य-सेवा में लगाने के लिए घर लौट आए। *गोदान* के प्रकाशन ने सिद्ध कर दिया कि उनका लौटना बहुत ही उपयुक्त हुआ।"[25] प्रेमचंद के पास जीवन-दृष्टि थी कि एक लेखक के लिए क्या स्वीकार्य है, क्या अस्वीकार्य। उसके सृजनात्मक लेखन, चिंतन के लिए कौन-सी परिस्थितियाँ अनुकूल हैं? वे सिनेमा-जगत में गए अवश्य, लेकिन उस दुनिया की भयावहता को देखकर वे अपनी वास्तविक ज़मीन पर लौट आए जहाँ वे जीवन का सर्वश्रेष्ठ सृजन *गोदान*, 'कफ़न' जैसे क्लासिक कालजयी साहित्य पूरी दुनिया के लिए छोड़ गए। आर्थिक सुरक्षा उनके लिए इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी जितनी सृजनात्मक लेखन की सुरक्षा। यह उन्होंने चुनना था कि उन्हें इन दोनों में किसकी अधिक ज़रूरत है और क्यों? मनुष्य को आर्थिक सुरक्षा चाहिए, ताकि वह जी सके, लेकिन केवल आर्थिक सुरक्षा के लिए जीकर आप कभी भी कालजयी तो क्या सालजयी भी नहीं हो सकते। जिसके व्यक्ति के भीतर *गोदान* जैसी कालजयी रचना अंकुरित होने के लिए छटपटा रही थी वह व्यक्ति सिनेरियो लेखक कैसे रह सकता था?

उपयुक्त और अनुपयुक्त के बीच उपयुक्त की तलाश ही उनका उद्देश्य था। इसीलिए तो सिनेरियो लेखक बनना उन्हें उपयुक्त नहीं लगा, क्योंकि वहाँ फ़िल्म निर्देशकों के संकेतों की तरह व्यक्ति को कठपुतली बनना पड़ता है। प्रेमचंद के लेखक को यह कदाचित् स्वीकार्य नहीं था कि वे हिंसा, मारकाट, आलिंगन, चुंबन, बलात्कार, हत्याओं की सनसनीखेज़ घटनाओं का चित्रण करें और धन कमाएँ। सिनेमा उद्योग की छद्मताओं को उन्होंने बहुत जल्दी पहचान लिया था कि एक जन-कलाकार, सच्चे जन-लेखक के लिए सिनेमा जगत में कोई स्थान नहीं है। वहाँ आर्थिक स्वतंत्रता, सस्ती लोकप्रियता तो है, लेकिन सृजनशीलता एवं मानवीय करुणा नहीं है। जैसे ही उनके भ्रम टूटते हैं वे *गोदान*, 'कफ़न' जैसी कृतियों को लिखने के लिए वापस लौट आते हैं। आर्थिक सुरक्षा उनके लिए कोई इतनी बड़ी चुनौती नहीं थी। उन्होंने पत्रकारिता की थी, लेकिन पत्रकारिता को भी उन्होंने ठीक ढंग से निभाया। जो चीज़ उन्हें अपनी विचार-दृष्टि, जीवन-दृष्टि के अनुरूप नहीं लगी उसे उन्होंने बेझिझक त्याग दिया। सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। स्थाई नौकरी को इस प्रकार छोड़ देना और 'एक्टिविस्ट' की तरह काम करना उनका ध्येय था। उनका बहुत स्पष्ट मानना था कि एक लेखक को कमाना चाहिए, ताकि वह ज़िंदा रह सके, लेकिन सिर्फ़ कमाने के लिए जीना, कला को व्यवसाय बनाना अपनी

अंतरात्मा को बेचना होगा। डॉ. इंद्रनाथ मदान ने प्रेमचंद के जीवन के विभिन्न संघर्षशील पक्षों पर भी रोशनी डाली है, ताकि एक संघर्षशील, ईमानदार रचनाकार के रचनात्मक संघर्ष और जीवन-संघर्ष को समझा जा सके कि यह कितना कठिन, चुनौतीपूर्ण, नैतिक साहस का काम है। मदान जी का प्रेमचंद के बारे में यह कथन बहुत उपयुक्त है—"प्रेमचंद ने भय अथवा अपने गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण अपने विचारों और आदर्शों को प्रकट करने में कभी आगा-पीछा नहीं सोचा। संक्रामक रोग ने उनकी शक्ति को खा लिया, लेकिन उनकी कार्य करने की इच्छा उनमें क्षीण शरीर से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई। वह सदैव एक योद्धा रहे थे और अभी मृत्यु से उन्हें एक युद्ध और करना था।...वे अपने भीतर घायल हृदय छिपाए हुए थे, जो मनुष्य की पीड़ा को देखते ही बह निकलता था। अपने जीवन और कला में वे मानवतावादी बने रहे।"[26] इंद्रनाथ मदान जहाँ कृति-केंद्रित आलोचना के ज़बर्दस्त पक्षधर हैं, वहीं उन्होंने प्रेमचंद के जीवन-दर्शन, आत्म-संघर्ष, जन-संघर्ष को जिस प्रकार रेखांकित किया है वह भी उनका कृति में से मथकर निकाला गया चिंतन है। एक लेखक के सृजनात्मक संघर्ष का क्या उसके जीवन-संघर्ष के साथ कोई संबंध नहीं होता? एक लेखक जो जीवन जीता है क्या उसका प्रभाव उसके लेखन, सृजन, चिंतन पर नहीं पड़ता? इंद्रनाथ मदान कृति और कृतिकार दोनों के बीच जो एक झीनी परत है उसे भी समझते थे कि कृति और कृतिकार कहाँ एकाकार होते हैं। मुक्तिबोध, प्रेमचंद, निराला, मोहन राकेश के संबंध में उनकी जो आलोचना-दृष्टि है उसे भी समझा जा सकता है कि उनकी नज़रों में कृति तो रहती ही है, कृतिकार भी पूरी तरह से ओझल नहीं होता। प्रेमचंद के साहित्य को इतनी व्यापकता, समग्रता एवं गहराई में पहचानने का श्रेय इंद्रनाथ मदान जी को जाता है कि कैसे अपने दौर में उन्होंने आलोचना को कथा-साहित्य से जोड़ा तथा कथा-साहित्य को पहचानने, परखने के नए प्रतिमान भी गढ़े। वे प्रतिमान आरोपित न होकर कृति की राह से गुज़रकर कृतियों के भीतर से निकाले हुए प्रतिमान हैं। आयातित या आरोपित क़तई नहीं।

कामायनी : एक असफल कृति

कामायनी को लेकर आलोचकों में गहरे मतभेद रहे हैं जिनके चलते *कामायनी* को एक असफल कृति तक घोषित कर दिया गया। क्या साहित्यिक कृतियाँ भी सफलता और असफलता की दृष्टि से परीक्षित, मूल्यांकित होती हैं? क्या कृति कोई हिसाब का सवाल है जिसका एक ही उत्तर होता है? इंद्रनाथ मदान ने 'कामायनी : एक

असफल कृति' शीर्षक के अंतर्गत *कामायनी* का जो पुनर्पाठ किया है, उसे समझना ज़रूरी है कि यदि वह एक असफल कृति है तो क्यों है? कैसे है? इंद्रनाथ मदान जी ने *कामायनी* की पूर्ववर्ती पढ़तों के आलोक में अनेक प्रश्न खड़े किए हैं कि कैसे आलोचकों ने इसे जानने, पहचानने, इसके स्वरूप को समझने तथा इसके मर्म को पहचानने की जो चेष्टाएँ की हैं, उसमें वे स्वयं कितने सफल हो सके हैं। *कामायनी* की पढ़तों में जो इतनी विविधता है यदि उन पर विचार किया जाए तो एक बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि अलग-अलग आलोचकों ने इसे अपने-अपने ढंग से समझने का प्रयास किया है जिससे इसमें बहुलार्थकता भी पैदा हुई तथा भ्रामकता भी। मदान जी के कथनानुसार—"इसे कभी रूपकों के माध्यम से पहचानने की कोशिश की गई है तो कभी चरित्रों के माध्यम से, कभी आध्यात्मिक आधार पर तो कभी मनोवैज्ञानिक आधार पर, कभी समाजशास्त्र को लेकर तो कभी मिथकों को लेकर, कभी महाकाव्य के रूप में तो कभी महान् काव्य के रूप में, कभी भाषा के धरातल पर तो कभी बिंब-विधान के धरातल पर, कभी इतिहास की दृष्टि से तो कभी छायावादी दृष्टि से। एक ही कृति अपनी पहचान करवाने के लिए जब इतनी पद्धतियों को अपनाने के लिए बाधित करती है तो इसका एक आशय यह है कि *कामायनी* कुछ है या इसमें कुछ है जो अनजाना रह जाता है।

इसका दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि हर आलोचक ने अपनी आँख से इसे देखा, जिससे *कामायनी* की आँखें मुँद जाती हैं या हर आलोचक ने अपनी आवाज़ को बुलंद करने की कोशिश की है कि *कामायनी* की आवाज़ इसके नीचे दबकर रह जाती है।"[27] मदान जी किसी भी कृति की राह से गुज़रने से पूर्व उस कृति पर जितनी भी आलोचकों की पढ़तें, धारणाएँ हैं उन्हें सामने लाते हैं, उन पर विचार-विमर्श करते, उनका खंडन-मंडन करते, अंततः अपनी आलोचना-दृष्टि को प्रतिपादित करते हैं। यही उनकी आलोचना-दृष्टि की एक विशिष्ट पद्धति है कि वे मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, मनोविश्लेषणवादी, सौंदर्यवादी, रूपवादी, कलावादी, इतिहासवादी, मिथकशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, रसवादी, छायावादी, आनंदवादी...लगभग सभी दृष्टियों की पड़ताल करते चलते हैं कि कहाँ-कहाँ इन ज्ञानानुशासनों, पद्धतियों के आलोक में कृति पर नई रोशनी पड़ी है और कहाँ-कहाँ, कब-कब कृति धुँधलाई है।

मदान जी के ही शब्दों में कहें तो—"आलोचकों के परस्पर-विरोधी मत इस बात को साबित करते हैं कि वे किस तरह अपनी-अपनी राह को इस पर लादने की कोशिश में अपने निकट और *कामायनी* से दूर होते गए हैं। यदि एकेडिमिक भाषा में कहा जाए तो इसका मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ होने की बजाय आत्मनिष्ठ होने की गवाही देता रहा है।...आलोचकों ने शायद भुला दिया है कि कवि सृजन के बाद

अपनी कृति से अलग हो जाता है पाठक या आलोचक का संबंध कृति से होता है, कृति के भीतर से निकली बात से होता है न कि कृतिकार की मन की बात से...इतर बातें कृति पर अतिरिक्त आलोक डालने के काम तो आ सकती हैं, लेकिन उसकी पहचान या मूल्यांकन का आधार नहीं बन सकतीं।"[28] कहानीकार, उपन्यासकार अपनी कृति के बारे में क्या कह रहा है, उस पर विश्वास करने की जगह, कृति क्या कह रही है, उसे देखना, पढ़ना, समझना पाठक के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। प्रसाद जी स्वयं *कामायनी* के बारे में, इसकी कथावस्तु, चरित्रों के बारे में क्या वक्तव्य दे रहे हैं, उसे समझना ज़रूरी तो होता है, लेकिन पाठक/आलोचक को उन वक्तव्यों को भी ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए कि उनका उस कृति विशेष से क्या संबंध है? कैसा संबंध है? कितना संबंध है? कहीं लेखक पाठक पर अपनी दृष्टि का दबाव तो नहीं बना रहा? क्या कृति खुद अक्षम है स्वयं बोलने पर कि लेखक को खुद उसमें दख़ल देना, बोलना पड़ रहा है और कृति के बचाव में कुछ तर्क, तथ्य जुटाने पड़ रहे हैं? कृति सृजन के पश्चात् तो कृतिकार से अलग होकर सार्वजनिक हो जाती है। अब यदि कृति को लेकर लेखक को कुछ स्पष्टीकरण देने पड़ते हैं तो मामला कुछ पेचीदा, जटिल अवश्य बन जाता है कि किसको सही मानें—कृति को, लेखक को अथवा पाठकों की प्रतिक्रियाओं को? *कामायनी* को लेकर भी ऐसी असमंजस की स्थिति बनी रही जिसको लेकर यह प्रश्न उठा कि कृति और पाठक के बीच में किसी मध्यस्थता की ज़रूरत क्यों? क्या कृति पाठक से संवाद रचाने के लिए पर्याप्त नहीं होती? कृति भी तो बोलती है? क्या वह बेजान, बेज़ुबान चीज़ है? कृति भी तो पाठक को पढ़ती है, उससे दो-चार होती है।

मदान जी के अनुसार बेहतर है यदि संवाद कृति और पाठक के बीच स्थापित हो। उनके अनुसार—"इस बात पर तूल इसलिए देना पड़ा है कि उधर जयशंकर प्रसाद, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, आचार्य नगेंद्र, डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, डॉ. प्रेमशंकर, गजानन माधव मुक्तिबोध, नामवर सिंह, रमेश कुंतल मेघ, डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी आदि ने *कामायनी* के बारे में जो और जितना लिखा है, उसमें अपनी-अपनी आवाज़ पर इतना अधिक बल दिया गया कि इसे बोलने का अवसर कम मिला है। उसे फिर आँकने की आवश्यकता भी इसलिए पड़ी है। मुक्तिबोध और डॉ. रमेश कुंतल मेघ यदि इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि *कामायनी* असफल है, तो वे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मिथकशास्त्र का सहारा लेकर। मुक्तिबोध ने सौंदर्यशास्त्र से परहेज़ किया है और कुंतल मेघ ने इसे छूने की कोशिश की है। आख़िर सौंदर्यशास्त्र भी तो एक शास्त्र है जो कृति पर लादा जा सकता है।"[29] *कामायनी* को लेकर सबसे गंभीर आरोप लगाने वाले चिंतकों में मुक्तिबोध, रमेश कुंतल मेघ और नामवर सिंह हैं जिन्होंने इस कृति के इतिहास-बोध

को खँगालते हुए संपूर्ण कृति को ही प्रश्नांकित कर दिया है। इस प्रक्रिया में *कामायनी* का मूल चेहरा ही कहीं दब गया है। व्याख्याओं, विश्लेषणों, सवालों का ऐसा अंतहीन सिलसिला कि मूल कृति ही दफ़न कर दी गई। डॉ. मदान उन अर्थों, व्याख्याओं, धारणाओं को खुरचते हुए उसके मूल चेहरे को पहचानने की कोशिश करते हैं जो उन व्याख्याओं, अर्थों की मज़बूत सतहों के नीचे कहीं दब गया था। इतना क्षत-विक्षत हो गया था कि उसे पहचान पाना भी कठिन है! आलोचक अपनी धारणाओं, व्याख्याओं को इतना लाद देते हैं कि कृति की सृजनात्मकता ही नष्ट हो जाती है और वह एक नीरस सैद्धांतिक विमर्श बनने लगती है। आलोचकों ने *कामायनी* के साथ भी लगभग ऐसा ही किया है। किसी ने इसे मिथकशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में देखा तो किसी ने सौंदर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में, किसी ने मनोविश्लेषणवाद का सहारा लिया तो किसी ने समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र का, छायावादी, रसवादी आनंदवादी आलोचकों ने इसकी कलात्मकता को ख़ूब सराहा। डॉ. मदान के अनुसार—"आचार्य वाजपेयी, नगेंद्र, डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना *कामायनी* की कलात्मक सफलता की बात करते हैं, तो यह उनकी/इनकी छायावादी, रसवादी आनंदवादी दृष्टि का परिणाम है। असल में आलोचक दो दलों में विभाजित लगते हैं। मुक्तिबोध, रमेश कुंतल मेघ, नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल की दृष्टि से समाजशास्त्र, मिथकशास्त्र का पुट देकर इसे गहराया है या इसे वैज्ञानिक बनाने की कोशिश की है।

इस तरह *कामायनी* का मूल्यांकन न केवल बदलते बोधों के साँचों में ढला हुआ है, दो दलों में विभाजित भी लगता है। इस प्रयास में इसकी इतनी चीर-फाड़ हो चुकी है, इस पर इतने टाँके लग चुके हैं कि इसे पहचानना कठिन हो गया है। यह कहना मुश्किल हो गया है कि इसका चेहरा कहाँ कैसे कटा हुआ है और कहाँ कैसे जुड़ा हुआ है। अन्य अंगों की भी यही स्थिति है।"[30] इंद्रनाथ मदान एक बेबाक आलोचक थे। *कामायनी* की आलोचकों ने जिस प्रकार निर्ममतापूर्वक चीरफाड़ की है उससे इसका मूल चेहरा ही बदल गया है। प्रत्येक आलोचक ने उसे अपनी दृष्टि से आँकने की कोशिश की है तथा उसे अपने आलोचनात्मक साँचों में ढाल दिया है। वस्तुनिष्ठ आलोचना उन तमाम परतों को हटाती है, धूल गर्द को साफ़ करती है तथा उसका वास्तविक चेहरा पाठकों के सामने लाती है। इंद्रनाथ मदान के अनुसार—"सबसे पहला अपराध प्रसाद ने यह कह कर किया है—'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए भी संकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष

हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग जाता है। इन्हीं सबके आधार पर *कामायनी* की कथा सृष्टि हुई है।"[31]

मदान जी का यह प्रश्न उठाना कि ये सब बातें क्या *कामायनी* के भीतर से निकली हैं? क्या पाठकों को लेखक के इन वक्तव्यों को आँखें मूँद कर स्वीकार कर लेना चाहिए कि जो कुछ कवि कह रहा है कि वह अधिक महत्त्वपूर्ण है? आलोचकों ने प्रसाद द्वारा *कामायनी* संबंधी बातों को इतना महत्त्व दे दिया कि प्रसाद जी के दिए गए वक्तव्यों, स्पष्टीकरण के आधार पर ही इसका मूल्यांकन होने लगा—"इन आलोचकों के मतों की राह से गुज़रकर ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि *कामायनी* स्वयं क्या है और उसे क्या बना दिया गया है? यह सही है कि हर कृति, यदि वह अनुकृति नहीं है, अनेक संकेत दे सकती है और दे रही है, लेकिन प्रसाद के कथन ने आलोचकों को गुमराह करने में अनायास सहयोग दिया है।"[32] प्रश्न उठता है कि क्या लेखक द्वारा अपनी कृति संबंधी दिए गए वक्तव्यों को पाठक को संदेह की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए? प्रसाद जी ने *कामायनी* से संबंधित जो-जो वक्तव्य, स्पष्टीकरण दिए, क्या उनकी कोई ज़रूरत थी? क्या सृजनात्मक कार्य से इतने संतुष्ट नहीं हुए कि उन्हें आत्म-वक्तव्य देने की आवश्यकता पड़ी? सच्ची आलोचना हर चीज़ को संदेह की दृष्टि से देखती है तथा उसे विचार और तर्क की कसौटी पर परखती है कि लेखक अपनी कृति संबंधी जो विचार, तर्क, व्याख्या कर रहा है, वह कितनी सही है? इसीलिए तो डॉ. मदान इसे प्रसाद जी का पहला अपराध मानते हैं कि उन्हें आत्म-वक्तव्य देने, अर्थ स्पष्ट करने, स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? उन्हें पुनः कृति और पाठकों के बीच में क्यों आना पड़ा? किस आवश्यकता-वश आना पड़ा?

आचार्य शुक्ल जी ने *कामायनी* की जिस असंगति की ओर संकेत किया है, "जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अंत में रचा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं हो पाया है।"[33] डॉ. मदान के अनुसार—"शुक्ल *कामायनी* की भीतरी आवश्यकता को भाँप तो लेते हैं, लेकिन अपनी मंगल-विधान की दृष्टि के कारण अपनी उँगली दुखती रग पर रखने के बजाय इसे असफल रूप में आँकने से रह जाते हैं।"[34] डॉ. मदान की समीक्षा-दृष्टि बार-बार उन पूर्ववर्ती पढ़तों को संदर्भों में लाती है कि *कामायनी* की जितनी भी पढ़तें हैं, उनमें पाठकों/आलोचकों ने *कामायनी* का कैसे पुनर्पाठ किया है। वे पढ़तें क्या हैं? उन पढ़तों में *कामायनी* की मूल संवेदना व्यंजित हुई है अथवा *कामायनी* का मूल पाठ ही ग़ायब हुआ है। आलोचकों ने वहाँ कैसी मनमानी व्याख्याएँ की हैं? वैसे आलोचक पूर्ण स्वतंत्र होता है पाठ को अपनी दृष्टि से पढ़ने और उसे अर्थ प्रदान के लिए। पाठक जब कृति को दूसरों की आँख से देखने की बजाय खुद अपनी आँख, दृष्टि

से देखता है तभी उसकी पढ़त में भिन्नता, नवीनता और मौलिकता आती है। यह ज़रूरी है कि पाठक/आलोचक उसे अपनी दृष्टि से देखे, पढ़े, समझे।

प्रसाद जी ने *कामायनी* में आत्म-वक्तव्य देकर एक तरह से अपनी दृष्टि को दूसरों पर लाद तो दिया कि इसे ऐसे देखो! क्या यह पाठक पर अपनी दृष्टि लादना नहीं है जिसकी ओर संकेत इंद्रनाथ मदान करते हैं कि "आलोचकों ने प्रायः कवि की हर बात को गाँठ बाँधकर आप्त वचन के रूप में स्वीकार कर लिया और इसे *कामायनी* पर आरोपित करना शुरू कर दिया, लेकिन यह भुला दिया गया कि यह कृति का अभिन्न अंग है या विकलांग।"[35] यह वह दौर था जब प्रसाद और निराला तक को अपनी कृतियों संबंधित आत्म-वक्तव्य, स्पष्टीकरण देने पड़े। एक बड़े सृजनशील रचनाकार से क्या यह अपेक्षित है कि वह अपनी कृतियों पर आत्म-वक्तव्य दे? क्या उसे अपनी सृजनात्मक क्षमताओं पर संदेह है कि वे भावाभिव्यक्ति में कमज़ोर हैं अथवा उसे पाठकों, कवियों, आलोचकों की क्षमताओं पर संदेह है कि वे उसे सही अर्थों में ग्रहण नहीं कर पाएँगे? उस दौर की आलोचना इतनी कमज़ोर भी नहीं थी कि वह *कामायनी* का अर्थ ग्रहण न कर पाती?" आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, नामवर सिंह, रमेश कुंतल मेघ, इंद्रनाथ मदान जैसे बड़े आलोचकों के दौर में आलोचना की क्षमता पर संदेह करना भी उपयुक्त नहीं लगता।

डॉ. इंद्रनाथ मदान प्रसाद जी के आत्म-वक्तव्यों को बड़े अपराध की दृष्टि से देखते हैं जिससे वह बड़ी कृति विवादों में उलझती चली गई। इसी दृष्टिकोण के चलते डॉ. मदान आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी जी की आलोचना में भी असंगति खोज लेते हैं—"वाजपेयी के मूल्यांकन में आंतरिक असंगति यह है कि एक तरफ़ तो *कामायनी* का उपसंहार उन्हें खटकता है और दूसरी तरफ़ आनंद का निरूपण इन्हें आनंद रस में गोते लगाने के लिए बाधित करता है। इस तरह वह *कामायनी* को खंडों में विभाजित करने से, इसके विविध पहलुओं को अलग-अलग आँकने से इसकी सृजनात्मक खंडों की पहचान में तो सफल हो जाते हैं, लेकिन सृजन की अखंडता की असफलता को पहचानने से रह जाते हैं।"[36] वाजपेयी जी ने उदात्त कल्पनाशीलता के आधार पर *कामायनी* के आनंद तत्त्व की प्रशंसा की है जिसकी डॉ. इंद्रनाथ मदान आलोचना करते हैं—"आचार्य नगेंद्र भी एक तरफ़ तो *कामयानी* के उपसंहार का मूल कथा से संबंध सहज नहीं मानते और दूसरी तरफ़ इसके संकेत अर्थ की स्पष्टता से बाधित होकर इसे आगे ले जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। आनंदवाद कवि के मानस का अभिन्न अंग है और यह आलोचक के रसवादी-आनंदवादी दृष्टिकोण के निकट भी हो सकता है, लेकिन जब तक *कामायनी* के भीतर से नहीं निकलता तो इसे सृजन और मूल्यांकन दोनों ही स्तरों पर आरोपित ही कहना पड़ेगा।"[37]

कामायनी को लेकर सबसे गंभीर विवाद छिड़ा मुक्तिबोध द्वारा लिखी पुस्तक *कामायनी : एक पुनर्विचार* को लेकर जिसमें उन्होंने *कामायनी* का समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उसे एक असफल कृति घोषित किया। मुक्तिबोध का मार्क्सीय चिंतन *कामायनी* का जिस प्रकार पुनर्पाठ करता है उसने *कामायनी* का न केवल एक नया क्रिटिक प्रस्तुत किया, वरन् *कामायनी* की प्रासंगिकता पर भी सवाल खड़े कर दिए। मुक्तिबोध ने मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि रूपकों का जिस प्रकार विश्लेषण किया, वह *कामायनी* पर एक नई तरह से रोशनी डालता है तथा कृतियों को समझने-पहचानने का एक नया दृष्टिकोण भी है जिससे पूर्णतया सहमत न होते हुए भी आलोचक उनकी नव्य पाठकोन्मुखी दृष्टि की सराहना किए बिना नहीं रह सकता। उनका यह विश्लेषण *कामायनी* को एक नई दृष्टि से देखता है जो लीक से हटकर है। मुक्तिबोध के अनुसार—"*कामायनी* की रूप-रचना, फ़ैंटेसी और उसमें छायावाद युग की समस्याओं को उठाया गया है। इसका मनु वेदकालीन नहीं है, वह अपनी ऐतिहासिक भूमि से पैदा हुआ है।"[38] मुक्तिबोध मनु की समस्या को *कामायनी* की मूल समस्या मानते हैं जो उस समय के उभरते हुए मध्य वर्ग की समस्या है। वे मनु के मनोविज्ञान का जो मनोविश्लेषण करते हैं कि "वह पराजय का पुत्र है जो अपनी पराजय को पलायन से ढँपता है। मनु का स्वभाव पूँजीवादी व्यक्ति का है।"[39] वह हिमखंड है जो पिघलता नहीं है, पाखंड है, अहंकारी और विलासी है, निराश और चिंतित है, उसका शासन और विलास छिन गया है।"[40] मुक्तिबोध मनु को उस अहंकारी, दंभी, पलायनोन्मुखी आत्मग्रस्त व्यक्ति के रूप में देखते हैं, जो अपना प्रभुत्व, वर्चस्व छिन जाने की वजह से व्यथित है।

डॉ. मदान मुक्तिबोध से सहमत होते हुए भी उनसे असहमत दिखाई देते हैं—"इस बिंदु पर पहुँचकर मुक्तिबोध का समाजशास्त्र *कामायनी* पर हावी होने की गवाही देने लगता है। आलोचक का यह शिकायत करना कि मनु अपनी पराजय को क्यों पलायन से ढँपता है, क्यों सामरस्य में छिपाता है, आरोपित दृष्टि का परिणाम है।...मुक्तिबोध ने अपने समाजशास्त्र के आधार पर प्रसाद के दृष्टिकोण की यह कहकर कड़ी आलोचना की है...इसी तरह मनु एक कमज़ोर चरित्र क्यों है, वह स्वयं भाग खड़ा होता है, डटकर मुक़ाबला क्यों नहीं करता, वह निराश क्यों है, वह विगत विलास की सुख-स्मृतियों पर क्यों रोता है, वह हिमखंड क्यों है, उसमें गहरी मनुष्यता का क्यों अभाव है? इस तरह आलोचक मनु के बारे में प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं, जिसका मतलब है कि मनु ऐसा क्यों है? कवि का इस पात्र पर मुग्ध होना आलोचक को खलता है।"[41] मुक्तिबोध ने *कामायनी* के पात्रों, घटनाओं, संरचना पर जिस प्रकार के गंभीर आरोप लगाए हैं, उन्हें देखकर यही प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध कृति पर यह सवाल उठाते हैं कि *कामायनी* इस प्रकार क्यों नहीं

लिखी गई? यदि वह इस तरह से न लिखकर, इस प्रकार लिखी जाती तो संभवत: वह महान् कृति होती। क्या इस प्रकार के प्रश्नों से मुक्तिबोध अपनी विचारधारा को *कामायनी* पर आरोपित करते दिखाई नहीं देते?

मुक्तिबोध के पास बहुत पैनी आलोचनात्मक दृष्टि थी, जिसके चलते वे *कामायनी* पर प्रश्न-दर-प्रश्नों की शृंखला लगा देते हैं कि कवि मनु को कैलास पर क्यों ले गए? क्या यह उनका पलायनवादी दृष्टिकोण नहीं? क्या कैलास पर पहुँचना प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करना है? मदान जी मुक्तिबोध से सहमत भी हैं और असहमत भी, जिसकी बानगी इन पंक्तियों में दिखाई पड़ता है, "मुक्तिबोध की दृष्टि पैनी और गहरी है। इसका परिचय *कामायनी* के विश्लेषण में मिल जाता है। असल में मनु-समस्या प्रसाद-समस्या है, यह सही हो सकता है। यह भी सही हो सकता है कि यह *कामायनी* की मूल समस्या है। मुक्तिबोध का यह कहना कि वह कथाकाव्य होते हुए भी चरितकाव्य नहीं हो सकी।...मनु की चीरफाड़ जितने पैने औज़ारों से मुक्तिबोध ने की है, उतने ही तेज़ औज़ारों, हथियारों से किसी ने अब तक नहीं की है, उसके गहरे में जितना मुक्तिबोध उतरे हैं, उतना अन्य आलोचक नहीं उतर सके हैं। इसलिए मनु पर उनकी पकड़ गहरी है, लेकिन वह जब हाथ धोकर इसके पीछे पड़ जाते हैं तो वह मनु को अपने साँचे में ढालने की भूल कर बैठते हैं, जो संभव नहीं है। आचार्य शुक्ल की तरह मुक्तिबोध भी श्रद्धा के पीछे पड़ जाते हैं और इड़ा की वकालत करते हैं। मुक्तिबोध ने श्रद्धा पर यह गंभीर आरोप लगाया है कि वह नारी के सहज विवेक से हीन है, वह मूढ़ है, वह भारतीय नारी नहीं है।"[42]

मुक्तिबोध ने मनु, श्रद्धा, इड़ा पर अनेकानेक प्रश्न-चिह्न लगाए हैं कि इन पात्रों में गहरे अंतर्विरोध हैं। *कामायनी* का मनु वेदकालीन न होकर छायावादी साँचे में ढला हुआ है। वह नियतिवादी है, उसका बोध सीमित है। मदान जी के अनुसार मुक्तिबोध की समाजशास्त्रीय, द्वंद्वात्मक भौतिकतावादी दृष्टि *कामायनी* पर एक नए दृष्टिकोण से रोशनी तो अवश्य डालती है, लेकिन इससे मार्क्सीय चिंतन के आरोपित होने के ख़तरे से भी वे बच नहीं सके हैं। यह लेखक की अपनी मार्क्सीय समझ है कि प्रसाद को *कामायनी* इस प्रकार न लिखकर, इस प्रकार लिखी जानी चाहिए थी। प्रसाद जी को मनु, श्रद्धा, इड़ा, सारस्वत प्रदेश को इस प्रकार न दिखाकर इस प्रकार दिखाना चाहिए था। मनु के चरित्र निर्माण में भी प्रसाद कहाँ असफल हुए हैं? मुक्तिबोध को आपत्ति इस बात को लेकर है कि 'कामायनी'-कार ने कैसे इसका काल्पनिक रूपातंरण, रचनांतरण किया है। मुक्तिबोध के अनुसार समरसता, आनंदवाद, अखंड आनंद की अनुभूति जीवन की समस्याओं का सार्थक विकल्प नहीं है। मदान

जी के अनुसार—"आलोचकों ने *कामायनी* का मूल्यांकन आरोपित मूल्यों के आधार पर किया है।"[43]

मदान जी ने मुक्तिबोध के बाद जिस बड़े आलोचक की आलोचनात्मक धारणाओं को रेखांकित किया, वह हैं मार्क्सवादी चिंतक आलोचक डॉ. नामवर सिंह जिन्होंने *कामायनी* का पुनर्पाठ बिलकुल नई दृष्टि से किया है। नामवर सिंह ने भी मुक्तिबोध की ही तरह *कामायनी* की नई व्याख्या की है, उसे नए आलोक में समझा है—"'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' का नारा लगाने वाले जो इसे *कामायनी* का संदेश भी बताते हैं, नारी की दासता चाहने वाले हैं।"[44] नामवर जी के अनुसार, यह उस समय की स्थिति है जब सन् तीस के आसपास भारतीय समाज को अहिंसावाद पीछे खींच रहा था और प्रगतिवाद आगे क़दम उठाना चाहता था। इड़ा पर मनु के हमले में लोकतंत्र से पैदा होने वाले फ़ासिज़्म को आँका गया है तथा बाढ़ के चित्रण को शासकों के तहस-नहस से जोड़ते हैं।"[45] नामवर जी *कामायनी* को उस समय की ऐतिहासिक चुनौतियों से जोड़कर देखते हैं। *कामायानी* की समस्या-निदान में जो काल्पनिक, आदर्शमूलक रूपातंरण हैं उसे भी आलोचकों ने संदेह की दृष्टि से देखा है कि प्रसाद जी समस्या का जो विकल्प प्रस्तुत करते हैं वह सर्वथा अवैज्ञानिक है। इस दृष्टि से रमेश कुंतल मेघ ने भी *कामायनी* की ऐतिहासिकता पर सवाल-दर-सवाल खड़े किए हैं कि उन्हें प्रसाद जी से यह तीखी शिकायत है कि एक कवि ने इतिहास का सहारा लेकर क्यों उड़ाया है इतिहास का मज़ाक़! इस प्रक्रिया में इतिहास हाशिए पर चला गया है और युटोपिया की अभिव्यक्ति हो पाई है। मदान जी के अनुसार, "मेघ ने विस्तार से पहली बार मिथकीय धरातल पर *कामायनी* की पहचान को गहराया अवश्य है, लेकिन इसे कृति के मूल्यांकन का आधार बनाना असंगत होगा।"[46] डॉ. मेघ ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक *मिथक और स्वप्न* में *कामायनी* की बहुत ही पैने औज़ारों से जो चीर-फाड़ की है, वह उनकी द्वंद्वात्मक भौतिकवादी, मार्क्सवादी, सौंदर्यशास्त्रीय समझ का ही परिणाम है। यह एक अलग बात है कि मदान को उसकी आलोचना दृष्टि आरोपित लगती है, लेकिन एक बात तो मदान जी भी स्वीकारते हैं—"डॉ. मेघ *कामायनी* के रूप-स्वरूप पर रोशनी डालते हुए कहते हैं कि इसमें तीन यात्राएँ हैं या आयामों के तीन स्तर हैं—ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक। ऐतिहासिक यात्रा महावट से शुरू होकर सारस्वत देश के बीच से होकर कैलास के शिखर पर चलती है, मनोवैज्ञानिक यात्रा काम, वासना और लज्जा में पूरी हो जाती है और आध्यात्मिक यात्रा में मनु और श्रद्धा का रूपांतरण है—मनु का शिव के रूप में और श्रद्धा का शक्ति के रूप में। डॉ. मेघ की राय में ऐतिहासिक आयाम में बिखराव आया है।"[47]

डॉ. मदान के अनुसार आलोचकों ने जितने पैने और सूक्ष्म तरीक़ों से *कामायनी* को परखा-मूल्यांकित किया है वह असफल होकर भी एक असाधारण रचना है। *कामायनी* की रचना-प्रक्रिया, कथानक, चरित्रों, पात्रों, कथा में भले ही कितने दोष क्यों न हों, इस कृति में ऐसा कुछ है जिसने बड़े-बड़े आलोचकों को विमर्श के लिए प्रेरित किया। सुधीश पचौरी तो *कामायनी* में देरिदा का विखंडन भी खोज लाते हैं। आख़िर क्यों न खोजें! पाठक स्वतंत्र है पाठ को अपनी एक नई अलग पढ़त देने के लिए। देखने वाली महत्त्वपूर्ण बात तो यह होती है कि पाठक उसे कैसे पढ़ रहा है? उसमें से क्या-क्या खोज रहा है जो उसकी पूर्ववर्ती, समवर्त्ती पढ़तों में नहीं है। डॉ. इंद्रनाथ मदान विभिन्न पढ़तों के आलोक में अपनी टिप्पणी करते हुए उसी चिर-परिचित अंदाज़ में कहते हैं—"एक को *कामायनी* में ऐतिहासिक चेतना या दिशा के खो जाने की चिंता है, दूसरे को आनंदवाद में निरूपित होने की, तीसरे को कथावस्तु में बाधित होने की, चौथे को नारी को श्रद्धा मानने की, पाँचवें को मिथक से स्वप्न में छलाँग लगाने की है। क्या इन चिंताओं से *कामायनी* की असफलता का खेद बढ़ा नहीं है? क्या साधारण सफलता से *कामायनी* की असाधारण असफलता बेहतर नहीं है?"[48]

मुक्तिबोध की कविता :
एक अधूरी कविता जो पूरी से बेहतर है

किसी भी आलोचक का आलोचनात्मक विवेक इस बात से भी परखा जाता है कि उसमें कृतियों के चयन का विवेक किस प्रकार का है, वह आलोचना के लिए किन कृतियों को अपने अध्ययन, मूल्यांकन का विषय बनाता है। कृतियों के चयन का विवेक उसकी जीवन-दृष्टि से भी जुड़ा होता है कि उसे किन लेखकों की रचनाओं ने प्रभावित किया है और क्यों? यदि इन प्रश्नों के आलोक में हम डॉ. इंद्रनाथ मदान की आलोचनात्मक दृष्टि पर विचार करें तो उन्हें जिन कृतियों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, वह हैं *गोदान, कामायनी,* 'मुक्तिबोध' और 'अज्ञेय' की कविताएँ। इसके अतिरिक्त उन्होंने आधुनिक साहित्य की सभी विधाओं पर गंभीरतापूर्वक लिखा है, लेकिन जिन रचनाकारों ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया है वे हैं प्रेमचंद और दूसरे मुक्तिबोध। मुक्तिबोध एक ऐसे संघर्षशील रचनाकर्मी हैं, जिन्होंने प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति की संवेदना की गहराई तक संवेदित, उद्वेलित किया है।

इससे आलोचक की साहित्यिक रुचियों का भी आभास होता है कि वह किन कृतिकारों की किन कृतियों को अध्ययन का विषय बनाता है। अब यदि प्रेमचंद

और मुक्तिबोध ने उन्हें प्रभावित किया तथा मदान जी की आलोचना-दृष्टि के ये केंद्र में रहे तो इसका अर्थ स्पष्ट है कि मदान जी प्रगतिशील विचाराधारा से बहुत गहराई तक प्रभावित थे। भले ही वे जीवन में वादों, दलगत बाड़ों, राजनीतिक आंदोलनों से दूर ही रहे। उनसे एक दूरी उन्होंने बनाए रखी, भले ही उनके मित्र, शिष्य, रचनाकार सभी किसी न किसी ख़ेमे से जुड़े रहे। इंद्रनाथ मदान यदि मुक्तिबोध के काव्य व्यक्तित्व पर रोशनी डालते हैं तो इसलिए, क्योंकि उस दौर में मुक्तिबोध जैसा बड़ा कवि अलक्षित एवं उपेक्षित रहा। इसका मुख्य कारण एक तो उनकी समग्र कविताएँ प्रकाशित न हो सकीं, दूसरा आलोचकों की उनके प्रति गहरी उपेक्षा।

अपनी कविताओं और उसकी रचना-प्रक्रिया के बारे में भी मुक्तिबोध ने नई कविता का आत्म-संघर्ष, नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, एक साहित्यिक की डायरी जो मरणोपरांत प्रकाशित हुई, उनका समूचा सृजनात्मक संघर्ष है, जिसके बारे में इंद्रनाथ मदान ने सही कहा है मुक्तिबोध ने *तार सप्तक* से लेकर *चाँद का मुँह टेढ़ा है* तक एक ही कविता लिखी जो अधूरी है और जो शायद पूरी होने से बेहतर है। यह अधूरी इसलिए है कि इसके मूल में काव्य-व्यक्तित्व और कवि-व्यक्तित्व की एक साथ संशोधन या रूपांतरण की जो प्रक्रिया है वह इसकी अंतिम कविता 'अँधेरे में' तक जारी है।"[49] मुक्तिबोध की समूची रचनाशीलता पर यह बात लागू होती है कि वे किस प्रकार आजीवन सतत् आत्म-संघर्ष, रचनात्मक संघर्ष, जीवन-संघर्ष की अग्नि-प्रक्रिया में से गुज़रते रहे जिससे उनका सृजन एवं चिंतन निखरता, परिष्कृत, संशोधित, परिमार्जित होता चला गया। मुक्तिबोध स्वयं को कैसे काटते, छीलते, कूटते, पीटते, संशोधित, परिवर्तित करते चलते हैं, किस प्रकार स्वयं को अपनी रचनाओं को छील-छाल, काँट-छाँट करते हैं। यह उनकी चेतना का विकास कहा जा सकता है जो अपने अधूरेपन को भरने के लिए निरंतर आत्म-सजग हैं—क्या यह आत्म-सजगता, आत्मालोचना, आत्मावलोकन आज के रचनाकारों, चिंतकों, बौद्धिकों के पास है? मुक्तिबोध की कविताएँ हमारे समक्ष अनेकानेक प्रश्न छोड़ती हैं, हमसे पूछती हैं, संवाद करती हैं—

1. लहराओ लहराओ नागात्मक कविताओ
2. इसलिए मेरी कविताएँ
भयानक हिडिंबा हैं
वास्तव की विस्तारित प्रतिमाएँ
3. यों मेरी कविता है बिना छत
बिना छत गिरस्तिन

4. हर पल चीख़ता हूँ शोर करता हूँ
कि वैसी चीख़ती कविता बनाने में लजाता हूँ

मुक्तिबोध अपने आत्म-संघर्ष, रचनात्मक संघर्ष को कविताओं द्वारा भी रेखांकित करते हैं –

ख़ूब काँट-छाँट और गहरी छील-छाल
रंदों और वसूलों से मेरी देखभाल,
मेरा अभिनव संशोधन अविरत क्रमागत!

आत्म-संघर्ष, रचनात्मक संघर्ष की यह सतत् आत्मालोचना की प्रक्रिया ही उनके काव्य-व्यक्तित्व को तराशती, निखारती है। ज़िंदगी-भर किस प्रकार अपने साथ 'ख़ूब काँट-छाँट और गहरी छील-छाल' कर रंदों से अपने भीतर के उन्होंने रग-रेशे निखारे, अपना अभिनव संशोधन किया क्रमागत! जब आलोचना यह काम करने में असमर्थ होती है तो यह काम कवि को ख़ुद ही करना पड़ता है। अपनी देह और आत्मा पर 'रंदे वसूले' चलाने ही पड़ते हैं। यही प्रक्रिया थी जिसने मुक्तिबोध की कविताओं को लहराने वाली नागात्मक कविताएँ बनाया, उसे एक नई धार दी। मुक्तिबोध में यह आत्मालोचना बहुत तीखी है–

इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए–
पूरी दुनिया साफ़ करने के लिए मेहतर चाहिए
वह मेहतर मैं हो नहीं पाता।

मुक्तिबोध इस दुनिया को बेहतर बनाने के लिए मेहतर का काम ही तो करते हैं। कल्पना कीजिए यदि मेहतर न हो तो यह दुनिया कचरे के ढेर में ही बदल जाए। जिस प्रकार बाहर की दुनिया को स्वच्छ रखने के लिए अपनी गर्द, धूल झाड़नी पड़ती है ठीक वैसे ही साहित्यिक परिदृश्य में जो धूल, गर्द, कचरा फैलता रहता है, उसे भी कवि साफ़ करता है। आत्मा के गलियारों में भी झाड़ू लगाना ही पड़ता है। मदान इसे कविता की धुन मानते हैं। यदि वह मेहतर हो जाते तो शायद कविता न कर पाते और अगर वह इसे करते तो मौन की भाषा में ही कर पाते। इसमें कवि का आत्म-चेतस या आत्म-सजग दृष्टिकोण बोलता है।"[50]

मुक्तिबोध आत्म-चेतस कवि हैं और विश्व-चेतस भी। यह आत्म-सजगता कहीं कवि की रचना-प्रक्रिया को बाधा तो नहीं पहुँचाती? अपनी कविताओं की रचना-प्रक्रिया के बारे में जो कुछ 'कला के तीन क्षण' नई कविता का आत्म-संघर्ष में तथा अन्य निबंधों में जो आत्म-वक्तव्य दिए हैं यदि उन पर विचार किया जाए तो मुक्तिबोध आत्म-समीक्षा के लिए जो संघर्ष करते हैं वह एक ईमानदार सृजनकर्मी

का आत्म-संघर्ष है। डॉ. नामवर सिंह मुक्तिबोध की इसी सतत् अन्वेषणात्मक प्रक्रिया पर रोशनी डालते हुए कहते हैं—"कविता के क्षेत्र में सचेत रूप से अपने-आपको जानने, समझने, खोजने और पाने की कोशिश करना अपने-आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि यों कहें कि कविता के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति है। आत्म-बोध की इस प्रवृत्ति ने कविता में अनेक भाव-स्थितियों को जन्म दिया है...उनकी ईमानदारी बार-बार आत्म-समीक्षा के लिए विवश करती है और इस प्रकार व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों के पुनर्गठन का प्रश्न एक नए संदर्भ में प्रायः उठा करता है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। इसलिए समय आने पर जो साहित्यकार या विचारक इस प्रश्न को उठाता है वह इतिहास का कार्य करता है। अपने से लड़ने वाले कवि तो इस पीढ़ी में कई हुए, किंतु 'वह जो समझौता कर सका नहीं और अपने से लड़ते-लड़ते थका' नहीं, ऐसा कवि यदि कोई है तो संभवतः वह है मुक्तिबोध!"[51] मुक्तिबोध को कवि एवं चिंतक के रूप में एक नई पहचान देने का श्रेय इंद्रनाथ मदान और नामवर सिंह जैसे प्रबुद्ध चिंतकों को ही जाता है जिन्होंने उनकी कविता की आत्मा में प्रवेश कर उस संघर्षशील कवि की अंतरात्मा को रेखांकित किया कि कैसे मुक्तिबोध जीवन-पर्यंत संघर्ष करते रहे। जिन्होंने सत्ता से किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं किया —

पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं।

क्या इन कविताओं में कवि का आत्म-सम्मान, आत्म-गौरव नहीं झलकता जिसने कुछ पाने के लिए कोई समझौता नहीं किया, वहीं समझौतावादी, अवसरवादी लोग समझौतों की राजनीति से ही सब कुछ पा रहे थे। यही चीज़ थी जो उनके कवि व्यक्तित्व को धार भी दे रही थी और ताक़त भी। इंद्रनाथ मदान इसे 'कवि व्यक्तित्व का घोषणा-पत्र' मानते हैं, जिसमें 'उनका आत्मसजग, आत्मचेतस दृष्टिकोण' बोलता है। मुक्तिबोध की इन पंक्तियों की तह में संशोधन की जो प्रक्रिया है उसका दोहराया जाना भी कविता का अभिन्न अंग बनकर आता है, कविता में न होकर, कविता में है। इस निरंतर कॉंट-छाँट, छील-छाल के बावजूद इनके व्यक्तित्व के दोनों पहलू अधबने, अनबने-से रह जाते हैं...मुक्तिबोध का आत्मवक्तव्य इनकी रचना-प्रक्रिया पर रोशनी डालता है। इस तरह *तार सप्तक* में इनकी कविता का चेहरा थोड़ा साफ़ होने लगता है।"[52]

इंद्रनाथ मदान की समीक्षा-दृष्टि पर यदि विचार किया जाए तो कुछ अंतर्विरोध भी सामने आते हैं कि जब प्रसाद *कामायनी* संबंधी आत्म-वक्तव्य देते हैं तो वह अपराध बन जाता है। "सबसे पहला अपराध प्रसाद ने यह कहकर दिया यह

आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का मिश्रण हो गया।"[53] और जब मुक्तिबोध आत्म-वक्तव्य देते हैं तो वह 'इनकी कविता की रचना-प्रक्रिया पर रोशनी डालता है जिससे इनकी कविता का चेहरा थोड़ा साफ़ होने लगता है।"[54] एक ओर आलोचक मदान लेखक के आत्म-वक्तव्यों को कृति के लिए अपराध और बड़ा ख़तरा मानते हैं कि इससे और अधिक भ्रम और विवाद पैदा हो गए, आलोचकों ने प्रसाद की कहीं बातों, वक्तव्यों को गाँठ बाँध लिया और दूसरी ओर मुक्तिबोध के आत्म-वक्तव्यों को उस समय की कविता पर एक नई रोशनी कहा, जिससे कविता का चेहरा साफ़ हुआ। मुक्तिबोध दोनों काम एक साथ कर रहे थे। एक सृजनशील कवि, कहानीकार, निबंधकार का काम भी और एक आलोचक का भी। मुक्तिबोध ने यदि दोनों काम किए तो कैसे? एक उनका सृजनशील व्यक्तित्व है दूसरा आलोचक, गंभीर तत्त्ववेत्ता चिंतक। यह दुर्भाग्य था कि मुक्तिबोध की कविताओं का पहला संकलन *चाँद का मुँह टेढ़ा है* (1964) नाम से छप सका है, वह भी उनके निधन के बाद। वह अपनी बेहोशी की अवस्था में इसे देख नहीं पाए। इन कविताओं का चयन भी कवि का न होकर संपादक का है। अचानक मुक्तिबोध का कवि जब पाठकों के सामने आया तो उसे इनकी शहादत से जोड़ दिया गया। यह शायद साहित्यकारों की अपराध-भावना का परिणाम था। इनकी कविता को निराला की परंपरा में रखकर आँका जाने लगा।"[55]

नामवर जी ने मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष को लोकोन्मुखी, जनोन्मुखी कहा है क्योंकि आत्मोन्मुखी आत्म-संघर्ष व्यक्ति में निराशा अंतर्मुखता पैदा करता है। मुक्तिबोध का सही मूल्यांकन करने वाले आलोचकों में इंद्रनाथ मदान, नामवर सिंह जैसे प्रबुद्ध चिंतकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि इन चिंतकों, आलोचकों ने उस समय की कविता का चेहरा साफ़ न किया होता तो आज हिंदी कविता और आलोचना जिस मुक़ाम तक पहुँच चुकी है, वह संभवतः न होती। इसमें मुक्तिबोध का आत्म-संघर्ष तथा मदान जैसे आलोचकों का आलोचनात्मक संघर्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचंद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध और आज की कविता की ज़मीन को पाटने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

मुक्तिबोध की पीड़ा, दर्द, बेचैनी भी आत्मोन्मुखी नहीं है और न ही उसमें कहीं पलायन या निराशावाद की अभिव्यक्ति है। मदान जी ने मुक्तिबोध की कविताओं में अनेक स्वर पहचाने हैं। स्वर वह दहशत का है, त्रास का है, ख़ौफ़ का है, घृणा का है, स्नेह का है, अकेलेपन का है, साथीपन का है, टूटने और लड़ने का है। इसी तरह उनकी कविता में मानसिक तड़पन, अकुलाहट और छटपटाहट है, है और होने में तनाव है, सादगी और टेढ़ापन है, सरलता और जटिलता है, आस्था और अनास्था है, शंका और विश्वास है। इसका न तो सरलीकरण किया

जा सकता है और न ही सामान्यीकरण और यदि किया जाता है तो कविता से दूर और अपने निकट होकर।" उन्हें नामवर सिंह का यह कथन भी सरलीकरण का शिकार लगता है—निराला और मुक्तिबोध ने अपनी बलि देकर कविता की बलि दे दी और ब्रेख्त ने दोनों को बचा लिया, राजकमल ने दोनों की बलि दे दी।"[56] क्या अपनी रचना को बचाने के लिए रचनाकार का बलि चढ़ना, मात्र तिरस्कृत, उपेक्षित होना ज़रूरी है? क्या अज्ञेय ने अपनी कविता की बलि दे दी थी और ख़ुद को बचा लिया था? क्या अज्ञेय रचनाघाती कवि हैं? आलोचकों की इस प्रकार की टिप्पणियाँ बेहद सरलीकृत या व्यक्तिगत दृष्टिकोण की शिकार हैं। मुक्तिबोध ने अपनी बलि देकर अपनी कविताओं को कैसे बचा लिया यह तो बात समझ में आती है, लेकिन अज्ञेय ने ख़ुद को बचाकर अपनी कविताओं की कैसे हत्या की, बलि चढ़ाई इसका निर्णय तो कविता की राह से गुज़रकर ही किया जा सकता है, फ़तवेबाज़ी से नहीं। मुक्तिबोध की कविताओं का आकलन उनकी कविताओं के आधार पर ही किया जा सकता है कि वे किस प्रकार आत्म-संघर्ष करते हैं, गहरे तनाव से गुज़रते हैं, अपने कष्टों, संघर्षों का बेबाकी से वर्णन करते हैं—

मैंने छोटे निज जीवन में
जी ली हैं अनगिन ज़िंदगियाँ
ज़िंदगी हरेक...
प्रज्वलित चंदन का ईंधन,
मेरी धमनी में जलते चंदन का धुआँ।

इन पंक्तियों में कवि का ज़बर्दस्त आत्म-संघर्ष, गहरी अनुभवशीलता, ज़िंदगी प्रज्वलित चंदन का ईंधन, धमनियों में जलते चंदन का धुआँ उनके आत्म-संघर्ष, जन-संघर्ष की गाथा है जो जीवन लेखक ने जिया है, भोगा है। मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ आत्मपरक संबोधन में हैं, जहाँ वे मैं, मुझ, मेरा, मेरी का प्रयोग करते हुए आत्म-संवाद करते दिखाई देते हैं। अपने निज, सेल्फ़, के प्रति जितनी आत्म-सजगता मुक्तिबोध में है, वह धीरे-धीरे विश्व-चेतस होने का भी प्रमाण देती है—'सहर्ष स्वीकारा है, 'डूबता चाँद कब डूबेगा', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'मेरे सहचर मित्र', आदि कविताओं को इस संदर्भ में पढ़ना चाहिए कि कैसे मुक्तिबोध अपने समय से ही दो-चार हो रहे थे।

डॉ. मदान मुक्तिबोध की कविताओं की राह से गुज़र कर दिखाते हैं कि उनकी कविताएँ फ़ैंटेसी के माध्यम से यथार्थ में बदलती हैं। उनका कहना है—"मुक्तिबोध ने अपनी बात कहने के लिए फ़ैंटेसी का चयन किया है तो इसका सही-ग़लत होना इनकी लंबी कविताओं के आधार पर परखा जा सकता है। इनमें कुछ कम लंबी

हैं और कुछ अधिक लंबी, लेकिन लंबी सब हैं—'ब्रह्मराक्षस', 'दिमाग़ी गुहांधकार', 'ओरांग-उटांग', 'लकड़ी का बना रावण', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'एक अरुण शून्य के प्रति', 'ओ काव्यात्मन फणिधर', 'नक्षत्र खंड', 'चकमक की चिंगारियाँ', 'एक स्वप्न कथा', 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर', 'चंबल की घाटी में' और 'अँधेरे में'। एक आलोचक की राय है कि इनकी कविता की पहचान के लिए दो लंबी कविताओं को आधार बनाया जा सकता है—'ब्रह्मराक्षस' और 'अँधेरे में'।"[57] मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' पर कुबेरनाथ राय के विश्लेषण से 'बहुत अधिक संतुष्ट होते हुए भी कि वे उसकी राह में बख़ूबी गुज़रे हैं, लेकिन इससे मुक्तिबोध की कविता का पूरा चेहरा साफ़ नहीं होता—"कुबेरनाथ राय ने कविता की राह से गुज़रकर इनके जवाब देने की कोशिश की है। इस कविता के चेहरे को पकड़ने से मुक्तिबोध की कविता का चेहरा पूरी तरह उतरने वाला भी नहीं है। कविता शुरू होती है एक सूनी बावड़ी से जो शहर के खंडहर के पास है। उसमें जल की गहराइयाँ हैं, अनेक सीढ़ियाँ जल में डूबी हैं। इसके बाद गहरी बात की संकेत है जिसका आधार समझ में नहीं आ रहा है।...इसमें एक ब्रह्मराक्षस क़ैद है जो पागल की तरह बड़बड़ाता है अपनी मैल धो रहा है।"[58]

प्रश्न उठता है यह ब्रह्मराक्षस कौन है? बावड़ी क्या है? वह उसमें क़ैद क्यों है? वहाँ का वातावरण किस स्थिति-बोध की सांकेतिक अभिव्यक्ति करता है। वह अपनी मैल क्यों धोना चाहता है? उसकी संवेदना स्याह क्यों है? बाहरी और भीतरी त्रासदी के दो पाटों में वह पिस किस लिए गया है? काव्य-नायक ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य क्यों धोना चाहता है? (जो हो नहीं पाता) इन सवालों से इस कविता के चेहरे को घूरा ही जा सकता है, इसे पकड़ने के लिए जवाब देने हैं।"[59] प्रश्न उठता है कि प्रश्नों, सार्थक प्रश्नों के बिना पाठक पाठ की भीतरी सतहों को खोल सकता है? यह सही है कि एक कविता कभी भी कवि के संपूर्ण काव्य-व्यक्तित्व को समझने में सहायक नहीं हो सकती, लेकिन जहाँ तक 'कृति की राह' से गुज़रने का प्रश्न है कुबेरनाथ राय 'ब्रह्मराक्षस' की उन थाहों को पकड़ने में सफल हो सके हैं अथवा नहीं? किसी कविता विशेष पर चिंतन-मनन की हमारे यहाँ बौद्धिक परंपरा नहीं रही है। इस दृष्टि से यदि कुबेरनाथ राय, नामवर सिंह 'अँधेरे में' में से यदि गुज़रे हैं तो इसमें वे कितने सफल हो सके हैं? 'सूरज का नमस्कार करना', 'चाँदनी की वंदना करना' यह बताता है कि वह 'ज्ञान का गुरु है'। वह वैदिक काल से लेकर गाँधी तक के वचनों की नई व्याख्या करता रहा है। शब्द का शब्द से लड़ना, ध्वनि का ध्वनि को काटना, कृति को विकृत कर रहा है। अब एक साँवला ज़ीना है जिस पर अँधेरी सीढ़ियाँ हैं जो निराले लोक को जाती हैं। उसका चढ़ना-उतरना, लुढ़कना सिसिफ़स की याद एक दूसरे स्वर में मिलाता है। इस निराले लोक में पहुँचना कब आसान है।"[60]

क्या मुक्तिबोध इन प्रतीकों के ज़रिए बौद्धिक वर्ग की त्रासदी को रेखांकित नहीं कर रहे? ब्रह्मराक्षस क्या उस बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता जो अपनी एकांतिक बावड़ियों में फँसा है उसमें से बाहर निकलता, लुढ़कता, फिसलता, गिरता, चढ़ता वह उससे मुक्त होना चाहता है, लेकिन वह मुक्त नहीं हो पाता, क्योंकि 'मुक्ति कभी अकेले में नहीं मिल सकती'। बुद्धिजीवी वर्ग अपनी मैल (खोट) को तो धोना चाहता है, लेकिन वह बावड़ी के जल में क़ैद है। वहाँ काई है। स्वच्छ जल नहीं है। उस जल से उसके भीतर और बाहर की मैल को साफ़ नहीं किया जा सकता। वह स्वयं को चिंतक-विचारक समझता है, लेकिन चिंतक और विचारक होने के लिए बावड़ी से बाहर निकलना यानी जन-समाज से जुड़ना ज़रूरी है जो कि वह बिल्कुल नहीं है। यही ब्रह्मराक्षस (बुद्धिजीवी वर्ग) की त्रासदी है। 'ब्रह्मराक्षस' तथा 'अँधेरे में' जैसी कविताएँ लिखकर मुक्तिबोध अपने समय के बौद्धिक समाज की त्रासदी ही लिख रहे थे। इसीलिए 'अँधेरे में' कविता में वे 'शोभायात्रा निकालते हैं किसी मृत्यु दल की'। इंद्रनाथ मदान मुक्तिबोध की कविताओं का जिस प्रकार 'क्रिटिक' प्रस्तुत करते हैं, वह उनकी अंतरात्मा में प्रवेश करने जैसा कार्य है।

'गाँधी के पुतले पर बैठे घुग्घु का गाना, बुद्ध के स्तूप में मानव के सपनों का गड़ जाना, ईसा के पंखों का उड़ जाना, सत्य की देवदासी चोलियों का उतारा जाना, सपनों की आँतों का चीरा और फाड़ा जाना' क्या यह साबित नहीं करता कि बाक़ी सब खोल है ज़िंदगी में झोल है।"[61] 'अँधेरे में' कविता के बारे में मदान जी का यह कहना उपयुक्त है—"'अँधेरे में' जो परम अभिव्यक्ति की खोज है वह मुक्तिबोध की अन्य कविताओं में भी जारी है, 'पता नहीं', 'ब्रह्मराक्षस', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'मुझे क़दम-क़दम पर' आदि में न केवल मानव की स्थिति और नियति को पहचानने की कोशिश है, उसके संशोधन की भी प्रक्रिया है। इसमें कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व दोनों की रचना रंदों और वसूलों से छील-छाल हो रही है।"[62] इंद्रनाथ मदान मुक्तिबोध की सतत् आत्मालोचना, आत्मसाक्षात्कार, आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया को उनके काव्य-व्यक्तित्व का सबसे शक्तिशाली पक्ष मानते हैं। जो कवि खुद पर रंदे, वसूले चलाना जानता है, उसका सृजनात्मक कर्म कितना सशक्त होगा कि मदान जैसे आलोचक को यह कहना पड़ा कि उनकी कविता 'जो अधूरी है और पूरी होने से कहीं बेहतर' भी है।

संदर्भ :

1. इंद्रनाथ मदान—*आलोचना और आलोचना,* फ्लैप से उद्धृत।
2. वही, वही, पृ.17.
3. वही, *भानुमती का पिटारा,* पृ. 28.

4. वही, *आलोचना और आलोचना* पृ. 171.
5. वही, पृ. 186.
6. वही, पृ. 186.
7. वही, पृ. 187.
8. प्रेमचंद, *गोदान*, पृ. 151.
9. नंद दुलारे वाजपेयी, *आधुनिक साहित्य के प्रतिमान*, पृ. 147.
10. इंद्रनाथ मदान, वही, पृ. 172.
11. वही, पृ. 175.
12. वही, पृ. 173.
13. वही, *प्रेमचंद : एक विवेचन*, अंग्रेज़ी 1940, पृ. 120-121.
14. वही, संस्करण 1962, पृ. 104.
15. प्रेमचंद, *गोदान*, पृ. 137.
16. वही, पृ. 184.
17. प्रेमचंद, *गोदान*, पृ. 172.
18. मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 189.
19. वही, पृ. 189.
20. वही, पृ. 188.
21. मदान, *आलोचना और आलोचना* पृ. 179.
22. मदान, *प्रेमचंद : एक विवेचन*, पृ. 31.
23. वही, पृ. 31.
24. वही, पृ. 31.
25. वही, पृ. 31.
26. वही, पृ. 36.
27. मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 45.
28. वही, पृ. 45-46.
29. वही, पृ. 46.
30. वही, पृ. 47.
31. जयशंकर प्रसाद, *कामायनी*, आमुख, पृ. 7-8.
32. मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 47.
33. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ. 637.
34. मदान, वही, पृ. 48.
35. वही, पृ. 47.
36. *आधुनिक साहित्य : कामायनी*, पृ. 79.
37. मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 50.
38. मुक्तिबोध, *कामायनी : एक पुनर्विचार*, पृ. 20.

39. वही, पृ. 21.
40. वही, पृ. 21.
41. मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 53-54.
42. वही, वही, पृ. 55.
43. वही, पृ. 58-59.
44. नामवर सिंह, *इतिहास और आलोचना*, पृ. 144.
45. वही, पृ. 145.
46. मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 60.
47. वही, पृ. 61.
48. वही, पृ. 77.
49. वही, पृ. 105.
50. वही, पृ. 111.
51. नामवर सिंह, *कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता*, पृ. 146-147.
52. मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 112.
53. वही, पृ. 47.
54. वही, पृ. 112.
55. वही, पृ. 112.
56. इंद्रनाथ मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 113.
57. वही, पृ. 120.
58. वही, पृ. 121.
59. वही, पृ. 121.
60. वही, पृ. 121.
61. वही, पृ. 126.
62. वही, *आधुनिकता और हिंदी साहित्य*, पृ. 29-30.

वैकल्पिक साहित्यशास्त्र की तलाश

(क) पश्चिमी सिद्धांतों का वर्चस्व और 'कृति की राह'

इंद्रनाथ मदान उन आलोचकों में से हैं जिन्हें भारतीय चिंतन परंपरा का ही नहीं, वैश्विक विमर्शों का भी गहरा ज्ञान था। लेकिन वे इसके ख़तरों से भी परिचित थे कि आलोचना के ये सिद्धांत जहाँ कृति को समझने में हमारी मदद करते हैं, वहीं इससे कृति की मूल संवेदना के दबने का भी ख़तरा पैदा हो जाता है। कृति पर सिद्धांतों का आवरण इतना चढ़ जाता है कि मूल कृति ही उपेक्षित हो जाती है मदान ने आलोचकों के इन ख़तरों को भाँपते, पहचानते हुए 'कृति की राह' जैसी सृजनशील आलोचना पर बल दिया कि कृति की राह से गुज़र कर ही कृति के सत्य तक पहुँचा जा सकता है। सैद्धांतिक समीक्षा में कृति का सत्य न होकर उन आलोचनात्मक प्रणालियों का ही सत्य उभरकर आता है और कृति का सत्य कहीं नीचे परतों में दबकर दफ़न हो जाता है। इसीलिए डॉ. मदान कृति की राह की स्थापना करते हैं।

प्रश्न उठता है कि यह कृति की राह क्या है? इसकी सैद्धांतिकी क्या है? क्या यह भी अन्य आलोचनात्मक ज्ञानानुशासनों, सिद्धांतों की तरह एक सैद्धांतिकी है? यदि कृति की राह होती है तो उसमें गुज़रने में गुरेज़ क्यों? आख़िर क्यों डॉ. मदान को 'कृति की राह' पर इतना बल देना पड़ा कि कृति की राह में से गुज़रो! इस तरह के आलोचनात्मक सिद्धांतों का जन्म भी उन ऐतिहासिक स्थितियों में ही होता है, क्योंकि जब आलोचक साहित्यिक आलोचना को विचारधाराओं का संग्रहालय बनाने में जुटे थे तथा कृतियों पर सिद्धांतों को इस क़द्र थोपा, आरोपित किया जा रहा था तो एक संवेदनशील आलोचक के लिए यह असह्य हो जाता है कि आलोचक कृतियों की उपेक्षा करे और आलोचना के नाम पर सैद्धांतिक प्रतिपादन, आरोपण करने लगे।

मदान जी के समय में हिंदी आलोचना की जो स्थिति थी यदि उस पर विचार किया जाए तो विभिन्न ज्ञानानुशासनों, सिद्धांतों का प्रलोभन इतना अधिक था कि कोई सौंदर्यशास्त्रीय आलोचनाशास्त्र तैयार कर रहा था, तो कोई मार्क्सवादी आलोचनाशास्त्र। डॉ. नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रामविलास शर्मा जैसे प्रबुद्ध चिंतक मार्क्सवादी सिद्धांतों को साहित्य पर लागू कर रहे थे। अस्तित्ववादी, मनोविश्लेषणवादी, रूपवादी, संरचनावादी न जाने कितने ही आलोचना के शास्त्र, इनमें भी अधिकांश ज्ञानानुशासन पश्चिमीकृत, औपनिवेशिक मॉडल ही थे जिनका हमारी साहित्यिक, सांस्कृतिक परंपराओं से कोई दूर का भी संबंध नहीं था। हिंदी आलोचकों की यह औपनिवेशिक, नवऔपनिवेशिक सोच ही है जिसके चलते यहाँ मार्क्सवाद, समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, रूपवाद, संरचनावाद, उत्तरसंरचनावाद से लेकर देरिदा का विखंडन और सईद की उत्तर-औपनिवेशिक आलोचना भी खप गई।

इसे हिंदी आलोचकों की बहुपठनीयता कहें अथवा औपनिवेशिक, उत्तर औपनिवेशिक सोच जिसके चलते हिंदी आलोचना में कुपठनीयता ही पैदा हुई। जब आलोचकों में पश्चिमपरस्ती की भावना शक्तिशाली होने लगती है तो आलोचना में अकादमिक परजीविता की मानसिकता का विकास होने लगता है। साहित्य-चिंतन की दुनिया में औपनिवेशिक, नवऔपनिवेशिक रूझान विकसित होने के पीछे यही कारण है कि पश्चिम की वर्चस्वी अवधारणाएँ सामने आईं। ये हमारे बुद्धिजीवियों की अकादमिक परजीवी मानसिकता की सूचक हैं। यह वही दौर है, जब पश्चिम की विचारधाराएँ हमारा उपनिवेशन-नवउपनिवेशन करने में कामयाब हो जाती हैं। हिंदी आलोचना में उपनिवेशन और नवउपनिवेशन का प्रभाव तभी दिखाई देने लगता है जब हमारे यहाँ साहित्य-आलोचना के नाम पर आधुनिकतावाद, आधुनिकताबोध, आधुनिकीकरण और मार्क्सवादी विचारधारा के बीच खुली वैचारिक जंग शुरू होती है। यह नामवर सिंह, रामविलास शर्मा, रमेश कुंतल मेघ, शिवकुमार मिश्र तथा अज्ञेय, मुक्तिबोध के बीच, नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल से होती हुई नई पीढ़ी के आलोचकों तक फैलती-सिकुड़ती है। छठे और सातवें दशक के पास हिंदी आलोचना में पश्चिम वर्चस्वी सिद्धांतों का इतना ज़ोर-शोर हुआ कि हिंदी आलोचना कृतियों से ही दूर नहीं हुई उसमें उपनिवेशन और उत्तर उपनिवेशन गहराता चला गया। यह उस समय की नामवर सिंह, रामविलास शर्मा 'पोलिमिक्स' में देखा जा सकता है। अज्ञेय और मुक्तिबोध आधुनिकता और मार्क्सवाद की समस्याओं से अपने ढंग से टकरा रहे थे। मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि

भी मार्क्सवादी सिद्धांतों, सौंदर्यबोध के सवालों को नई कविता का आत्म-संघर्ष, नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, मार्क्सवादी साहित्य आलोचना की समस्याएँ, *कामायनी : एक पुनर्विचार* में अपने ढंग से उठा रहे थे। मुक्तिबोध का *कामायनी : एक पुनर्विचार* अपने ढंग का काम था जिस उन्होंने मार्क्सवाद के पैने औज़ारों से उस कृति की चीरफाड़ कर डाली। आगे चल कर डॉ. इंद्रनाथ मदान ने कृति की राह का सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए *कामायनी* संबंधी तमाम विश्लेषणों पर सवाल-दर-सवाल उठाते हुए, उन्हें रद्द करते हुए 'कृति की राह' का विकल्प प्रस्तुत किया।

(ख) क्या है 'कृति की राह'?

कृति की राह का जो विकल्प डॉ. मदान प्रस्तुत करते हैं उसके पीछे उनका मक़सद पश्चिमवर्चस्वी मार्क्सवादी, आधुनिकतावादी औपनिवेशिक परजीवी मानसिकता को पहचानना था कि कैसे हिंदी आलोचना विभिन्न विचारधाराओं से इतनी प्रभावित एवं आतंकित है कि वह पश्चिमी सिद्धांतों को विकल्पहीन मान चुकी है। इसीलिए डॉ. मदान प्रेमचंद के *गोदान* पर जब विचार करते हैं तो हिंदी उपन्यास की ज़मीन को तलाशते, पहचानते हुए तमाम पश्चिमीकृत, औपनिवेशीकृत उपन्यास के सिद्धांतों को ख़ारिज़ करते, उन्हें चुनौती देते हुए इसमें गहरे औपनिवेशिक व्यंग्य को पहचानने में काफ़ी सफल हो जाते हैं। यही कारण है कि वे घोषित करते हैं कि यह समय पद्य से गद्य का ऐतिहासिक दौर है वे कथा-साहित्य को आलोचना के केंद्र में स्थापित करने में काफी सफल हो जाते हैं। विधाओं में जो नए रूपांतर हो रहे थे, वे उनकी अहमियत को भी बख़ूबी पहचानते थे कि यह दौर गद्य का क्रांतिकारी दौर है।

यह डॉ. इंद्रनाथ मदान ही थे जिन्होंने हिंदी आलोचना को काव्य-केंद्रित होने की जगह कथा-साहित्य से जोड़ा जिससे एक नई आलोचना-दृष्टि का सूत्रपात हुआ। अब तक हम आलोचना के लिए काव्यशास्त्र शब्द का प्रयोग करते आए हैं क्योंकि हमारी ज़ेहनियत में काव्य का वर्चस्व अभी तक क़ायम है। साहित्यशास्त्र के प्रयोग में हम अभी भी हिचकिचाते हैं तो क्यों? जब काव्य साहित्य की केंद्रीय विधा थी तो काव्यशास्त्र का प्रयोग होता था और मदान जी ने पहली बार प्रेमचंद के उपन्यासों, कहानियों पर 1931 में विचार-विमर्श द्वारा कविता के पवित्र मंदिर में उपन्यास का प्रवेश संभव कराया जिससे हिंदी आलोचना में विधागत रूपांतर संभव हुआ। डॉ. मदान आलोचनाशास्त्र की ज़मीन को भी तैयार कर रहे थे कि उपन्यास के जो पश्चिमीकृत सिद्धांत हैं उनके आधार पर भारतीय उपन्यास विधा को नहीं

समझा जा सकता, क्योंकि यहाँ उपन्यास का जन्म सर्वथा भिन्न स्थितियों में हुआ है। तीसरी दुनिया और विशेषकर भारत में जिन परिस्थितियों में उपन्यास विधा का जन्म एवं विकास हुआ है यदि उन्हें पश्चिमीकृत उपन्यासशास्त्र के प्रतिमानों पर रखकर आँका जाएगा तो वे अप्रासंगिक ही लगेंगे! डॉ. मदान जिस 'कृति की राह' की बात कर रहे थे उसके पीछे उनका दृष्टिकोण आलोचना के पश्चिमीकृत, औपनिवेशीकृत रूपों को पहचानना था कि उनके आधार पर *गोदान, वे दिन, झूठा सच, रागदरबारी* का मूल्यांकन संभव नहीं है। हिंदी उपन्यास की ज़मीन को समझे बिना हम हिंदी उपन्यास का समीक्षाशास्त्र, सिद्धांत निरूपण भी नहीं कर सकते। डॉ. मदान बार-बार साहित्य को पढ़ने-समझने की तमीज़ पर बल दे रहे थे कि जब तक हिंदी आलोचना 'कृति की राह' में से नहीं गुज़रेगी तब तक हम न तो साहित्य की संवेदना को समझ पाएँगे और न ही हमारे पास अपना कोई मौलिक सिद्धांतशास्त्र होगा। यही वजह है कि आज भी हिंदी आलोचना इतने उच्च-स्तरीय कालजयी उपन्यासों के बावजूद उपन्यास का कोई साहित्यशास्त्र विकसित नहीं कर सकी है! पश्चिमीकृत साहित्यशास्त्रों, प्रतिमानों, कसौटियों ने साहित्य की ज़मीन की सही शिनाख़्त नहीं होने दी। जब हमारे पास चिंतन-मनन, विवेचन-विश्लेषण, मूल्यांकन, पुनर्पाठ की अपनी कोई मौलिक समझ होगी तभी हम उसके साथ सही न्याय कर सकेंगे। डॉ. इंद्रनाथ मदान का 'कृति की राह' का सिद्धांत भले ही हमें कृति की कोई बनी-बनाई राह नहीं दिखाता, क्योंकि राह तो पाठक ख़ुद ही खोजता है। वह नई राहें भी खोजता है तथा कभी-कभी गुमराह भी होता है। गुमराह भी वह तभी होता है जब वह कृति के भीतर से नहीं गुज़रता, बल्कि दूसरे ज्ञानानुशासनों, आलोचनाशास्त्र के बने-बनाए पूर्व निर्धारित नुक़्तों, नुस्ख़ों से उसे समझने की कोशिश करता है।

'कृति की राह' पर विचार करते हुए डॉ. मदान यही सवाल उठाते हैं कि आख़िर क्यों *गोदान, कामायनी,* 'अँधेरे में' जैसी कृतियों की इतनी पैने औज़ारों के साथ हुई चीरफाड़ के बावजूद उनकी मूल शक्ल इतनी कट-पिट चुकी है कि उसको पहचान पाना संभव नहीं है। आलोचना के तीखे औज़ारों से उनका कितना भला हुआ है? इसीलिए मदान की आलोचना-दृष्टि सदैव 'कृति की राह' की ही वकालत करती दिखाई देती है। इसका मुख्य कारण शायद यही रहा होगा कि इतने अधिक आलोचनाशास्त्रों ने उसकी पहचान को गहराने, स्पष्ट करने की अपेक्षा उसे धुँधलाया अधिक है। इस प्रक्रिया में मूल कृति, मूल पाठ ही ग़ायब हो जाता है तथा आलोचकों-पाठकों की प्रतिक्रियाएँ, पढ़तें मुखरित होने लगती हैं। क्या *गोदान, कामायनी,* 'अँधेरे में' जैसी क्लासिक, कालजयी कृतियों के साथ आलोचकों ने यही कुछ नहीं किया? तभी डॉ.

मदान *कामायनी* के बारे में बहुत तीखी व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हैं कि आलोचकों ने इसकी इतनी चीरफाड़ की है, इस पर इतने टाँके लगाए जा चुके हैं कि मूल कृति का चेहरा ही क्षत-विक्षत हो चुका है। किसी ने उस पर मार्क्सवादी औज़ारों का प्रयोग किया तो किसी ने मिथकशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र का, किसी ने उसकी रसवादी व्याख्या की तो किसी ने शैवदर्शन, समरसतावादी..., इस प्रकार *कामायनी* की मार्क्सवादी, सौंदर्यशास्त्रीय, मिथकशास्त्रीय, मनोविश्लेषणवादी, रसवादी व्याख्याएँ सामने आईं, उससे कृति के अर्थों का रहस्योद्घाटन कम, आलोचनाशास्त्रों का दबदबा अधिक दिखाई दिया। इसीलिए डॉ. मदान उन विभिन्न आलोचना के बाड़ों को चुनौती देते हैं तथा खुद को गड़रिये की भूमिका में रखते हैं जिसकी 'न तो कोई भेड़ है और न ही कोई बाड़ा'। जब आलोचक साहित्य की बाड़ेबंदी, गुटबाज़ी करने लगता है तो साहित्य, आलोचना और पाठक तीनों की ही दुर्गति होती है। डॉ. मदान 'कृति की राह' पर जो इतना ज़ोर देते हैं, वह इसलिए है, क्योंकि जब तक पाठक-आलोचक के पास 'कृति की राह' से गुज़रने का साहस नहीं होगा, वह कभी भी कृति में नए अर्थों का संधान नहीं कर सकता। उधार के सैद्धांतिक मॉडलों के आधार पर कृतियों का पुनर्पाठ संभव ही नहीं है।

डॉ. इंद्रनाथ मदान आलोचनाशास्त्र के इस औपनिवेशिक संकट को अपने ढंग से पहचान रहे थे कि आधुनिकतावादी, मार्क्सवादी सिद्धांतों के बल पर हिंदी समीक्षा न तो समृद्ध हो सकती है और न ही आत्मनिर्भर। क्या कोई कृतिकार इन सिद्धांतों, अवधारणाओं, प्रतिमानों को सामने रखकर साहित्य का सृजन करता है? क्या यह आलोचकों की औपनिवेशिक, उत्तर-औपनिवेशिक नियंत्रित, अनुकूलित मानसिकता नहीं है कि हर चीज़ के लिए हमें पश्चिमीकृत सिद्धांतों का सहारा लेना पड़ता है? क्या हमारे पास अपनी साहित्यानुशीलन की परंपराएँ नहीं हैं? क्या हर चीज़ का उत्तर हमें पश्चिमीकृत, औपनिवेशीकृत सिद्धांत ही देंगे? क्या हम इतने अक्षम हो चुके हैं कि अपने साहित्यसिद्धांतों, साहित्यानुशीलन की परंपराओं से हमारा भरोसा उठ गया है? क्या यह हमारी नवऔपनिवेशीकृत, पश्चिमीकृत सोच नहीं है? क्या हिंदी साहित्य की ज़मीन को समझने के लिए हमें मार्क्सवादी, रूपवादी, आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तरसंरचनावादी सिद्धांतों की उधार ली हुई अवधारणाओं को अपनाते रहना होगा? यह हमारा घनघोर दुर्भाग्य है कि हम पश्चिमीकृत सिद्धांतों से इतने आतंकित या चमत्कृत हैं कि अपनी साहित्यिक कृतियों की समझ के लिए नए साहित्य-सिद्धांतों की खोज से बचने की कोशिश करते हैं। डॉ. मदान का 'कृति की राह' का सिद्धांत इसी विकल्प की सार्थक अभिव्यक्ति है।

(ग) कृति की राह की आवश्यकता क्यों?

किसी भी नए सिद्धांत, विमर्श के जन्म के पीछे ठोस ऐतिहासिक स्थितियाँ होती हैं, जिसके गर्भ में से कोई नई सैद्धांतिकी जन्म लेती है। कृति की राह की जो बात डॉ. मदान ने उठाई थी, उसके पीछे सबसे बड़ा कारण समीक्षाशास्त्र पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव था। आधुनिकतावादी समीक्षकों और मार्क्सवादी चिंतकों के बीच जो वैचारिक संघर्ष छिड़ा था, उससे साहित्य और आलोचना के ध्रुवायित होने का ख़तरा भी बढ़ गया था। पश्चिम में भी मार्क्सवादियों, नवमार्क्सवादियों, गैरमार्क्सवादियों ('लूकाच-ब्रेख़्त' विवाद) के बीच ज़बर्दस्त वैचारिक संघर्ष छिड़ा था और हिंदी में भी वह अपने ढंग से सक्रिय था। परिणामस्वरूप हिंदी आलोचना सैद्धांतिक अवधारणाओं के बीच उलझकर रह गई तथा साहित्यिक, सांस्कृतिक प्रश्न हाशिए पर चले गए। इससे हिंदी आलोचना का क्षरण अधिक हुआ। यही कारण है कि हिंदी आलोचना कृतियों पर केंद्रित होने की अपेक्षा सैद्धांतिक, आरोपित अधिक होने लगी। कृति-केंद्रित समीक्षाएँ कम हुईं। सैद्धांतिक आरोपण अधिक हुआ, जिससे वह सृजनशीलन, पठनीय होने की जगह दुरूह, नीरस, उबाऊ, अपठनीय, विचारबोझिल होती चली गई।

आख़िर क्या कारण है कि भारतीय साहित्यानुशीलन में कृति-केंद्रित समीक्षा का विकास नहीं हो सका? कृतियों की गंभीर विवेचन-विश्लेपण, मूल्यांकन, पुनर्पाठ की संस्कृति विकसित नहीं हो सकी तो इसीलिए, क्योंकि आलोचना 'कृतियों की राह से न गुज़र' सिद्धांतों की बारीकियों में उलझकर रह गई। 'अँधेरे में' कविता पर रामविलास शर्मा ने अस्तित्ववादी औज़ार आज़माए तो नामवर जी ने *कविता के नए प्रतिमान* में उसमें परम अभिव्यक्ति की खोज की तो चंचल चौहान और अन्य मार्क्सवादियों ने उसे मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक पद्धति की कविता बना दी। यही वजह है कि डॉ. इंद्रनाथ मदान आलोचकों को बार-बार चेताते हैं कि कृति की राह में से गुज़रो ओर देखो कि वह क्या कह रही है, न कि उससे यह अपेक्षा करो कि कृतिकार ने इसे ऐसे न लिखकर, ऐसे क्यों लिखा है यानी प्रेमचंद, से वे यह अपेक्षा रखते हैं कि उन्होंने *गोदान* ऐसे न लिखकर ऐसे क्यों लिखा? मुक्तिबोध को प्रसाद जी से यह शिकायत है कि उन्होंने मनु का व्यक्तित्व इस प्रकार क्यों बनाया है तथा उसे कैलास पर पहुँचाकर मानो वे आदर्शवादी ढंग से समस्याओं का सरलीकरण क्यों करने लगते हैं? ऐसे प्रश्न, शिकायतें, अपेक्षाएँ आलोचक की गहरी चिंताएँ अवश्य हैं कि यह कृति इस प्रकार न होकर इस प्रकार क्यों हैं? इंद्रनाथ मदान अपने समय के आलोचकों से इसी अर्थ में थोड़ा भिन्न थे कि उनकी नज़र में आलोचना

कृति-केंद्रित नहीं है। वह कृतियों से दूर होती हुई सिर्फ़ विचारधाराओं, सैद्धांतिक अवधारणाओं, निजी मुद्दों का राजनीतीकरण कर रही है। इसीलिए वे सौंदर्यशास्त्री, मिथकशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, मनोविश्लेषणवादी, रसवादी, आधुनिकतावादी, मार्क्सवादी, कृतिवादी, अनुकृतिवादी, उपनिवेशवादी पश्चिमी विचारधाराओं की तीखी आलोचना करते हैं, क्योंकि इनके आलोक में कृतियाँ धुँधला रही हैं तथा आलोचना जटिल, संकुल एवं दिशाहीन भी हो रही है। हर बाड़े वाला आलोचक उसे अपनी तरह से हाँकना चाहता है जिससे हिंदी आलोचना अपने-अपने बाड़ों में क़ैद है तथा वह कृति को भी नियंत्रित करना चाहती है जिससे वह 'भटकने की गवाही दे रही है'।

आलोचना के केंद्र में जब कृति नहीं होगी और वह कृति की राह में से नहीं गुज़रेगी तब तक वह कृति के मर्म को उद्घाटित नहीं कर सकती। हिंदी आलोचना यदि इतनी नीरस, संवेदनहीन, उबाऊ अथवा अपठनीय है तो सिर्फ़ इसीलिए क्योंकि वह अपनी सीमित विचारधाराओं के बाड़ों से मुक्त हो ही नहीं सकी है। इसीलिए मदान यह सवाल उठाते हैं कि 'यदि कृति सजग है तो आलोचना क्यों नहीं? इसे किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है—'मूल्यांकन, समीक्षा, जाँच-पड़ताल, परीक्षण-निरीक्षण' या पुनर्पाठ! आख़िर क्यों कृतियों का मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ होने की अपेक्षा, आत्मनिष्ठ होता जा रहा है? हालाँकि आलोचक की आत्मनिष्ठता भी बुरी नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक आलोचना आलोचक के निजी व्यक्तित्व का आईना होती है जिस पर उसकी पूरी छाप होती है, लेकिन वस्तुनिष्ठता की उपेक्षा भी उतनी ही ख़तरनाक होती है। हालाँकि आलोचना की अवधारणाओं में भी परिवर्तन आता रहता है। हर युग की समीक्षा के अपने क्षितिज होते हैं। युग-बोध में बदलाव के कारण आलोचना की धारणाएँ या अपेक्षाएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। आलोचक को भी अपनी धारणाओं को बदलना, काटना, तराशना, निखारना होता है। तभी उन्होंने यह सवाल उठाया था—"एक छायावादी आलोचक कैसे मुक्तिबोध की कविताओं को मान्यता दे सकता है? एक मार्क्सवादी ने तुलसी के मानस को घटिया बताने की कोशिश की है। आज चाहे इस धारणा में थोड़ा अंतर पड़ गया हो। एक आधुनिकतावादी आलोचक किस तरह कालिदास के शाकुंतल को उसकी राह से गुज़रकर उसे पहचानने की कोशिश कर सकता है?"

इस प्रकार के सवाल उठाने के पीछे उनका दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट था कि कृति की राह की संवेदना को समझे, गुज़रे बग़ैर तुलसी का *रामचरितमानस* कैसे समझ में आ सकता है, क्योंकि आँखों पर चढ़ा, आरोपित चश्मा कृति के वास्तव तक पहुँचने नहीं देता। वहाँ सफ़ेद रंग भी लाल-नीला नज़र आए तो क्या आश्चर्य! जैसे-जैसे युग की अपेक्षाएँ, धारणाएँ बदल रही हैं, कृतियों को पहचानने, समझने,

मूल्यांकन करने की कसौटियाँ भी बदल रही हैं और उसमें उन कृतियों की प्रासंगिकता, अप्रासंगिकता भी बदलती रहती है। आज कोई भी मार्क्सवादी तुलसी पर विचार करते समय इस तरह के विचार नहीं रख सकता, क्योंकि धीरे-धीरे कृतियों से संबंधित दृष्टिकोणों में भी बदलाव आता रहता है। यह ज़रूरी नहीं कि यदि कोई कृति छायावादी दौर में उपेक्षित रही तो वह हर युग में उपेक्षित रहे। क्या आज अज्ञेय संबंधी आलोचकों (ख़ुद मार्क्सवादी चिंतकों) के विचारों में परिवर्तन नहीं आया है? तभी डॉ. मदान ने यह सवाल उठाया था—"शास्त्र या वाद एक तरफ़ जहाँ नया रास्ता खोलता है, वहाँ वह अपनी सीमा में बंद होकर जड़ता की दशा या स्थिति को भी सूचित करने लगता है। परिभाषाएँ भी सूत्रबद्ध होकर कृति की पहचान को जहाँ उजागर करती हैं, वहाँ धुँधला भी बना डालती हैं।"[1] आलोचना के इस संकट को जितनी शिद्दत एवं गहराई से डॉ. मदान पहचान रहे थे, यह उनकी 'कृति की राह' का सृजनशील परिप्रेक्ष्य था। डॉ. मदान इस संकट को पहचान रहे थे कि आलोचना अपने मंतव्यों, गंतव्यों, उद्देश्यों से पूरी तरह भटक चुकी है तथा वह विभिन्न ख़ेमों, दलगत आग्रहों का शिकार होती जा रही है। उस पर दलगत आग्रहों का प्रभाव इतना अधिक है कि आलोचक कृतिकार से यह माँग करने लगता है कि कृति इस तरह से न होकर इस तरह से क्यों है? कामायनीकार ने इसकी रचना इस प्रकार न करके इस प्रकार क्यों की? *गोदान* की संरचना में फाँक क्यों है? नगर कथा बाहर से चिपकाई हुई क्यों है? इस प्रक्रिया में कृतियाँ उपेक्षित होने लगीं। किसी ज्ञानानुशासन, आलोचनाशास्त्र की मदद लेना एक बात है, उन्हें कृतियों पर लागू करना दूसरी बात है। सवाल यह है कि जिन आलोचनात्मक सिद्धांतों, औज़ारों, प्रतिमानों का प्रयोग आलोचक कृति पर करता है क्या वे कृति की समझ को बढ़ा रहे हैं? क्या लेखक रचना लिखते समय सैद्धांतिक, विचारधाराओं का सहारा लेता है? कृति यदि सृजनात्मक कार्य है तो क्या समीक्षा का सृजनशील होना अनिवार्य नहीं है? समीक्षा सृजनशील तभी हो सकती है यदि वह कृति की राह में से गुज़रे तथा उसका नवसृजन भी करे।

पाठक कृति का पुनःसृजन करता है। वह उसमें अपनी कल्पनाशीलता, सृजनशीलता से नए अर्थ भी भरता है। क्या हिंदी आलोचना में ऐसी सृजनशीलता दिखाई पड़ती है? आज के इस उत्तर औपनिवेशिक दौर में आलोचना के नाम पर विमर्श अधिक हो रहे हैं। हिंदी आलोचना में विमर्शों का इतना शोर है कि कृतियाँ सिरे से ही ग़ायब या ख़ारिज हैं। क्या आज पुनः डॉ. मदान की 'कृति की राह' का विकल्प एक नई चुनौती के रूप में नहीं उभरा है? आज जितने भी विमर्श हिंदी आलोचना में सक्रिय हैं यदि उन पर विचार किया जाए तो साहित्य पर बहस कम,

सैद्धांतिक अवधारणाओं पर बहसें अधिक हो रही हैं। दूसरी इस संबंध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आलोचना के प्रतिमान कृतियों के भीतर से ही पैदा होते हैं। हिंदी आलोचना का सबसे बड़ा संकट यह है कि आलोचक पहले सिद्धांत, प्रतिमान बना लेते हैं, फिर उन्हें कृतियों पर ज़बर्दस्ती लादते हैं जिससे मूल कृति उपेक्षित हो जाती है। यदि आलोचक कृतियों का गहन अध्ययन करने के बाद उनके भीतर से प्रतिमान निकालते तो वे मौलिक होते। उधार ली हुई अवधारणाओं, प्रतिमानों के आधार पर कभी कृतियों का पुनर्पाठ संभव नहीं है। इससे पुनर्पाठ कम, कुपाठ अधिक होता है। क्या *कामायनी* के साथ आलोचकों ने यही कुछ नहीं किया? क्या *गोदान*, 'कफन', 'अँधेरे में' जैसी क्लासिक कालजयी कृतियाँ कुपढ़ता की शिकार नहीं हुईं?

पुनर्पाठ के नाम पर कुपाठ अधिक हो रहा है। हरेक आलोचक *कामायनी*, *गोदान*, कफ़न को अपने ढंग से देखता है। विविधतावाद, बहुलतावाद के नाम पर आलोचना में मनमाने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ रही है, जो आलोचना और साहित्य दोनों के लिए बहुत ही घातक सिद्ध हो रही है। डॉ. मदान की कृति की राह का सिद्धांत इसी संकट में से उपजा है, क्योंकि उस दौर की समीक्षा कृति से दूर होने की गवाही दे रही थी। उसमें अनेक भटकाव, अंतर्विरोध पैदा हो रहे थे। इसीलिए मदान बार-बार इन सवालों से टकराते दिखाई देते हैं। आज कृति की राह का सिद्धांत और भी सार्थक और प्रासंगिक हो उठा है, क्योंकि नए-नए विमर्शों के शोर में कृतियाँ उपेक्षित हो रही हैं। मदान जी ने जो सवाल सत्तर-अस्सी के दौर में उठाए थे वे उस समय जितने प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण थे, आज इक्कीसवीं सदी के इस दौर में उनकी प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। उत्तर आधुनिकतावाद, भूमंडलीकरण, नवउदारवाद, उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद के इस दौर में जो हाशियाकृत विमर्शों का बहुत तेज़ी से उभार हो रहा है, जो नए-नए विमर्श सामने आ रहे हैं, उनसे साहित्य में पुनर्पाठ की संभावनाएँ भी पैदा हुई हैं और कुपाठ के ख़तरे भी बढ़े हैं। कृतियों पर बात कम, विमर्शों पर अधिक हो रही है। फ़ैशन की तरह नए-नए देशी-विदेशी 'ब्रांड' बाज़ार में सक्रिय हैं। आज कृति की राह का प्रश्न एक बार फिर जीवंत हो उठा है। 'आलोचना पारिभाषिक शब्दों, अवधारणाओं में उलझकर रह गई है। आलोचना में जिन पारिभाषिक शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है उनका मतलब क्या है, हर बाड़े वाला उसे अपने तौर पर लेता है।"[2]

यही कारण है कि हिंदी आलोचना सृजनशील, कृति-केंद्रित होने की जगह गुमराह अधिक हो रही है तथा पाठकों को भी गुमराह कर रही है। आलोचना की इस ग़ैर-सृजनशीलता एवं दिशाहीनता को पहचानते हुए भी उन्होंने व्यंग्यात्मक कटु टिप्पणी की थी कि 'आज की हिंदी आलोचना में न आलू है न चना।' आलोचकों

के अपने-अपने ख़ेमे, बाड़े हैं और अपनी-अपनी भेड़ें। हर आलोचक अपनी भेड़ और बाड़े को दूसरों से बेहतर समझता है।' हिंदी आलोचना में लंबे समय से यह राजनीति चलती रही है कि कौन-सा लेखक श्रेष्ठ है और श्रेष्ठता, सर्वोच्चता का मापदंड उसकी कृतियाँ नहीं, बल्कि उसका किसी संगठन, ख़ेमे, दल या बाड़े से उसका संबंध है। इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण लेखकों की कृतियाँ उपेक्षित हुई तथा कम महत्त्वपूर्ण लेखक महान् बना दिए गए। डॉ. मदान ने हिंदी आलोचकों की इस राजनीति का बहुत तीखे शब्दों में विरोध किया है तथा आलोचना को बाड़ेबंदी का शिकार बनाया है जो कि काफ़ी सही दृष्टि भी है। यही बात पुरस्कारों पर भी लागू होती है। इसकी अपनी भयंकर राजनीति है जिसका शिकार महत्त्वपूर्ण लेखक-आलोचक होते रहे हैं। "आलोचकों की निगाह लेखकों पर अधिक रही है, उसकी कृतियों पर कम और अगर कृतियों पर पड़ी है तो दोनों को एक मानकर, जबकि सृजन के बाद वे एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं।"[3] कृति की राह का मसला इतना सीधा, सपाट नहीं है जितना उससे गुज़रना। ''यह मशक्कत तो आलोचक/पाठक को ख़ुद ही करनी पड़ती है। कोई भी आलोचक किसी को अंगुली पकड़कर कृति की राह में से नहीं गुज़ार सकता। यह तो उसे स्वयं आत्मसंघर्ष, कल्पनाशीलता, सृजनशीलता द्वारा गुज़रना पड़ता है।

आलोचना की जो विभिन्न पद्धतियाँ हैं उनसे कृतियों को समझने की कुछ सीमा तक तो मदद अवश्य मिलती है, लेकिन केवल उन्हीं पद्धतियों, औज़ारों, प्रतिमानों से ही कृतियाँ खुल जाएँगी, ऐसा सोचना भी सर्वथा भ्रामक है। मदान ने सही कहा है कि आलोचक का काम तो असल में कृति को रोशनी दिखाना हे, ताकि वह जहाँ तक संभव हो रोशन हो सके।"[4] आलोचक यदि कृति पर रोशनी डालने में सक्षम है, उसके अंतर्निहित अर्थों को उद्घाटित करने में समर्थ है तो वह कृति की राह से गुज़रकर ही संभव है। ठीक वैसे ही कृति की संवेदना से जुड़कर ही उससे संवाद संभव है। कृति और पाठक दोनों के बीच ही यह निरंतर संवाद-प्रक्रिया चलती है। कृति और पाठक के बीच चलने वाला यह संवाद 'कृति की राह' का ही रास्ता खोलता है। समस्या तभी पैदा होती है जब आलोचक कृति को बिना पढ़े, समझे, यानी उसकी राह से गुज़रे बिना ही वह कृति के बारे में तरह-तरह के फ़तवे जारी करने लगता है। इससे वह कृति पर कम, कृतिकार पर अधिक बोलता है। वह चाहे प्रशंसा हो अथवा निंदा इन दोनों अतियों के बीच ही वह घूमता है। यही कारण है कि कृतियों पर संवाद लगभग न के बराबर हुआ है। हिंदी आलोचना में कृति-केंद्रित समीक्षा की कोई स्वस्थ परंपरा विकसित नहीं हो सकी, जबकि पश्चिमी देशों में एक-एक कृति, कहानी पर बड़े-बड़े आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं।

वाद-विवाद-संवाद की स्वस्थ संस्कृति के अभाव में आलोचना का स्तर गिरता जा रहा है। मदान जी अपने समय की विभिन्न आलोचना-पद्धतियों की सीमाओं को भी पहचान रहे थे कि मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, मनोविश्लेषणवादी, रूपवादी, समाजशास्त्रीय, सौंदर्यशास्त्रीय, आधुनिकतावादी समीक्षा पद्धतियों का जो विकास हो रहा है उससे साहित्यिक कृतियों, प्रश्नों को लेकर कितनी समझ साफ़ हुई है और इनकी क्या सीमाएँ हैं? क्या मार्क्सवाद, रूपवाद के आधार पर कृति के मर्म तक पहुँचा जा सकता है?

संदर्भ :

1. इंद्रनाथ मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 12-13.
2. वही, पृ. 15.
3. वही, पृ. 18.
4. वही, पृ. 19.

मदान की आलोचना-दृष्टि की प्रासंगिकता

इंद्रनाथ मदान बीसवीं शताब्दी के आधुनिक आलोचकों में एक बहुत ही दृष्टि-संपन्न मौलिक चिंतक थे, जिन्होंने पहली बार आधुनिक साहित्य का एक ऐसा सिद्धांतशास्त्र निर्मित किया जो पश्चिमी साहित्यशास्त्र से पूरी तरह से भिन्न था। 'कृति की राह' का सिद्धांत पश्चिम की पाठाश्रित आलोचना से भी पूरी तरह से अलग इस अर्थ में था, क्योंकि वे कृतियों के माध्यम से साहित्य के सिद्धांत, प्रतिमान खोजने की बात कर रहे थे। कुछेक आलोचक उनकी 'कृति की राह' को कृतिवाद या पाठाश्रित आलोचना ही मानते हैं जो पश्चिम की सैद्धांतिकी थी, लेकिन मदान जी की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने उसके सैद्धांतिक निरूपण, प्रतिमानीकरण पर कम, साहित्य की विवेचना पर अधिक बल दिया।

उस दौर की समीक्षा पर यदि विचार करें तो वह सिद्धांत-निरूपण, 'प्रतिमान'-निर्धारण में उलझी हुई थी, लेकिन मदान की आलोचना-दृष्टि की मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने यदि उपन्यास के समीक्षाशास्त्र की बात उठाई तो प्रेमचंद के उपन्यासों के माध्यम से इस धारणा को परिपुष्ट किया कि हिंदी उपन्यास पश्चिम के उपन्यासशास्त्र से न केवल भिन्न है, बल्कि उसका जन्म, विकास एवं स्वरूप भी पश्चिमी साहित्यशास्त्र, उपन्यासशास्त्र से भिन्न है। उनका समूचा आलोचनात्मक चिंतन कृति-केंद्रित था जिसे वे 'कृति की राह' कहते थे। कृति की राह का अर्थ है कि आलोचक कृति को समझे कि वह क्या कह रही है। कृति की मर्म एवं संवेदना तक पहुँचने के लिए उधार के प्रतिमानों की आवश्यकता नहीं, बल्कि प्रतिमान तो कृति के भीतर से ही निकलते हैं। आलोचक जब दूसरों की उधार ली हुई अवधारणाओं से कृति को समझने की कोशिश करता है तो वह उस कृति से उतना ही दूर होता जाता है। वह अपनी सैद्धांतिक स्थापनाओं के आधार पर उसका आकलन-मूल्यांकन करने लगता है जो कि एक औपनिवेशिक, उत्तर-औपनिवेशिक

मानसिकता है। इस औपनिवेशिक मानसिकता के चलते ही आलोचकों ने समीक्षाशास्त्र के नाम पर कचरे का विशाल स्तर पर अकादमिक उत्पादन ही किया है। इंद्रनाथ मदान आलोचना के इस संकट को पहचान रहे थे कि आलोचक नए प्रतिमानों की खोज में इतने भटक चुके हैं कि उन्हें इस तथ्य का भी ज्ञान नहीं है कि प्रतिमान भी साहित्यिक, सांस्कृतिक परंपराओं में से उपजते हैं। यदि उन सिद्धांतों के आधार पर हम प्रेमचंद के *गोदान* को परखेंगे तो क्या उससे इसकी संवेदना या इतिहास-बोध को समझ सकेंगे? पश्चिमीकृत औपनिवेशिक मानसिकता के चलते बुद्धिजीवियों, आलोचकों की परजीवी मानसिकता ने हिंदी साहित्य का कोई सार्थक विश्लेषण नहीं किया। इसी बिंदु पर पहुँचकर डॉ. इंद्रनाथ मदान की आलोचना-दृष्टि उस दौर के आलोचकों से पूरी तरह से अलग हो जाती है, क्योंकि साहित्य-सिद्धांतों, प्रतिमानों के बल पर, वह भी उधार ली हुई पश्चिमी सैद्धांतिकियों से हम हिंदी साहित्य की संवेदना एवं आधुनिकता-बोध को नहीं समझ सकते।

अब सवाल यह उठता है कि मदान ने जो 'कृति की राह' का सिद्धांत निर्मित किया, क्या वह पश्चिम की पाठाश्रित आलोचना की नक़ल तो नहीं है? फिर वह किन मायनों में पाठाश्रित आलोचना से भिन्न है और कैसे? क्या कृति की भी कोई राह होती है? कृति की राह मूलतः कृति-केंद्रित आलोचना-दृष्टि है कि आलोचक कृति को देखे कि वह क्या कह रही है? केवल आलोचना के औज़ारों से कृतियों के साथ छेड़छाड़ करना, उन पर अपने विचारों, सिद्धांतों, अवधारणाओं को ज़बरन लादना है। इसीलिए मदान बार-बार कृति की राह पर लौटने की बात करते थे तथा विभिन्न ज्ञानानुशासनों, आलोचनात्मक पद्धतियों की सीमाओं एवं अंतर्विरोधों को भी रेखांकित कर रहे थे—"आलोचना आज फिर से अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए और अपनी अस्मिता को जानने-पहचानने के लिए अनेक दिशाओं में भटकने की गवाही दे रही है, लेकिन आलोचक इसे अपने-अपने बाड़ों में या तो बंद रखना चाहते हैं या दूसरे बाड़े में चले जाने की अनुमति देकर उसका अपने बाड़े में लौटना आवश्यक समझते हैं...यह बाड़ा चाहे सौंदर्यशास्त्र का हो या समाजशास्त्र का, मिथकशास्त्र का हो या मनोविज्ञान का, रसवाद का हो या अस्तित्ववाद का, अनुकृतिवाद का हो या कृतिवाद का, रूपवाद का हो या वास्तववाद का, बिंबवाद का हो या सपाटवाद का, भारतीय काव्यशास्त्र का हो या पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का यह आलोचना की दिशाओं की दशा है जो जटिल और संकुल होने की गवाही दे रही है।"[1] आलोचकों ने विभिन्न समीक्षाशास्त्रों से सिद्धांत, प्रणालियाँ उधार लेकर उन्हें न केवल श्रेष्ठ घोषित किया, बल्कि उनके आधार पर कृतियों का आकलन करने लगे। हिंदी आलोचना विभिन्न आलोचनात्मक प्रणालियों, सैद्धांतिकियों में क़ैद होकर रह गई तथा अनेक कृतिकार भी इस दलगत बाड़ेबंदी का शिकार हुए, जिससे

आलोचना और रचना दोनों की ही भारी क्षति हुई। इंद्रनाथ मदान आलोचना और साहित्य की इस दलगत बाड़ेबंदी के सख़्त ख़िलाफ़ थे, क्योंकि इस दलगत राजनीति ने ही कृति-केंद्रित समीक्षा का विकास नहीं होने दिया। इससे कृतियों पर चर्चा कम, कृतिकारों और सिद्धांतों, अवधारणाओं पर अधिक होने लगी। मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय, आधुनिकतावादी, संरचनावादी समीक्षा पर इतनी भारी मात्रा में आलोचना-ग्रंथों का उत्पादन हुआ जिसमें साहित्य, कृतियों पर चर्चा कम, सिद्धांतों पर हज़ारों पृष्ठ काले किए गए। परजीवी मानसिकता के कारण विदेशी सिद्धांतों का इतना वर्चस्व स्थापित हुआ कि आज भी हिंदी समीक्षा इस उत्तर-औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त नहीं हो सकी है। क्या मार्क्सवादी औज़ारों, प्रतिमानों से 'कफ़न' का पुनर्पाठ संभव है? क्या प्रत्येक कृति के अपने कला-नियम नहीं होते? क्या 'शतरंज के खिलाड़ी' का विवेचन भी उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर होगा, जो 'सद्‌गति' या 'दो बैलों की कथा' के आधार पर? 'प्रत्येक कृति की अपनी भिन्न रचना-प्रक्रिया होती है जिसकी राह से गुज़रकर उसे आँका जाना चाहिए।' यहाँ तक डॉ. मदान के अनुसार हर विधा की लय भी अपनी-अपनी होती है, कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी आदि की। क्या कृतिवाद की दृष्टि से *युद्ध और शांति* को आँकना संभव होगा? क्या बिंबवाद के आधार पर निराला की कविता कुकुरमुत्ता को आँका जा सकता है?' डॉ. मदान इन ज्ञानानुशासनों, सिद्धांतों की सीमाओं को पहचानते हैं कि इनके आधार पर कृतियाँ धुँधलाती अधिक रही हैं और चमकती भी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इनसे उनकी पहचान उजागर कम, धुँधली अधिक हुई है। कृति के भी तो अपने कला-नियम, सौंदर्य-नियम होते हैं। प्रत्येक कृति का अपना रचना-संसार, सौंदर्य संसार होता है जिसकी पड़ताल के भी अपने विशिष्ट नियम होते हैं। कृति कोई गणित का सवाल तो नहीं है और न ही उसे आलोचना के सरलीकृत नुक्तों, नुस्ख़ों, अवधारणाओं से समझा जा सकता है। इंद्रनाथ मदान जब *गोदान* का पुनर्पाठ करते हैं तो एक-एक करके हिंदी की तमाम समीक्षा-पद्धतियों की तीखी आलोचना करते हैं कि कैसे उधारीकृत, पश्चिमीकृत औपनिवेशिक सिद्धांतों ने *गोदान* जैसी कालजयी रचना का कुपाठ किया है।

इंद्रनाथ मदान ने भारतीय साहित्यानुशीलन की परंपरा में जो एक नई बात की शुरुआत की, वह थी आधुनिक साहित्य का सिद्धांत-निरूपण जिसे वह पश्चिम की पाठाश्रित आलोचना से भी अलग करके 'कृति की राह' का सिद्धांत निर्मित कर रहे थे। 'कृति की राह' मूल रूप में कृति-केंद्रित समीक्षा का ही विकल्प है। क्या संस्कृत काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र का विकास कालिदास की कृतियों के भीतर से नहीं हुआ? संस्कृत काव्यशास्त्र में रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति या ध्वन्यालोक में हुई जितनी भी बहसें हैं उनका संबंध उस दौर के संस्कृत साहित्य से नहीं है? संस्कृत

के आचार्यों ने साहित्यशास्त्र में जो इतना उदात्त स्तर का विवेचन-विश्लेषण, बौद्धिक मंथन किया क्या वह महज़ सैद्धांतिक काम था? उसके केंद्र में उस समय का महत्त्वपूर्ण साहित्य था जिसके आधार पर अभिधा, लक्षणा, व्यंजना या काव्य की आत्मा, रस और ध्वनि पर इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म काम हुआ। साहित्यानुशीलन की यह परंपरा आधुनिक काल में पूरी तरह से अवरुद्ध हो गई। आचार्य शुक्ल ने अवश्य इस परंपरा को आगे बढ़ाने में मदद की, लेकिन आधुनिक समीक्षकों ने साहित्यानुशीलन, सिद्धांत-निरूपण के नाम पर पश्चिमी सत्ता-वर्चस्वी औपनिवेशिक सिद्धांतों का अंधानुकरण करना शुरू कर दिया। मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी आलोचकों के बीच जो बौद्धिक टकराहटें थीं उनका संबंध भी उस दौर की वैश्विक परिदृश्य में चल रही समाजवादी विचारधारा और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्षों से था जिसकी अभिव्यक्ति नामवर सिंह, रामविलास शर्मा तथा परिमल समूह के आलोचकों-लेखकों में साफ़ दिखाई दे रही थी। साहित्य के प्रश्न हाशिए पर धकेले जा रहे थे और सारा ज़ोर मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी, संरचनावादी, रूपवादी समीक्षा-पद्धतियों पर केंद्रित था। साहित्यिक कृतियों को लेकर भी विचारधारात्मक पूर्वग्रह अधिक सक्रिय थे। नामवर जैसे प्रबुद्ध आलोचक कविता के नए प्रतिमानों के लिए संघर्षरत थे तो मुक्तिबोध नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र रचने में सक्रिय थे। कृतियों पर क़ायदे से गंभीरतापूर्वक विवेचन, मूल्यांकन कम हो रहा था। नामवर जी ने कविता के जो नए प्रतिमान निर्मित किए थे, उनका संबंध उस दौर की साहित्यिक कृतियों और विचारधारात्मक बहसों से था। इंद्रनाथ मदान अपने समय के आलोचकों की आलोचनात्मक पद्धतियों की सीमाओं और अंतर्विरोधों से टकराते नज़र आते हैं कि कैसे उस युग की आलोचना अपने-अपने सिद्धांतों के दायरों में क़ैद थी जिससे वे विनोदभाव या व्यंग्य भाषा में आलोचना के बाड़े, भेड़ों और गड़रिए का रूपक देते हैं कि—"आलोचकों के अपने-अपने बाड़े हैं और अपनी-अपनी भेड़ें हैं, मेरी स्थिति एक गड़रिए की है जिसका न तो अपना बाड़ा है और और न ही जिसकी अपनी भेड़।"[2] बहुत ही चुटीली, व्यंग्यात्मक या विनोदभाव की भाषा में वे अपने समय की आलोचना की दशा और दिशा को भी पहचानते हैं और उसकी सीमाओं, अंतर्विरोधों को भी पूरी बेबाकी, प्रखरता के साथ रेखांकित और उद्‌घाटित करते हैं।

यही कारण है कि वे जब *गोदान* पर विचार करते हैं तो उस दौर के तमाम आलोचकों के विचारों, विश्लेषणों को एक-एक करके सामने लाते हैं और उनकी तीखी आलोचना करते हुए अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। पूर्ववर्ती पढ़तों को विखंडित करते हुए वे आलोचना में नवाचार लाने के लिए ज़बर्दस्त संघर्ष करते हैं। मूल रूप में वे अंग्रेज़ी से हिंदी में आए थे। उनके पास वैश्विक विमर्शों, सिद्धांतों का विपुल ज्ञान था, लेकिन कभी उनसे मोहाविष्ट भी नहीं हुए तथा न ही कभी

उन्होंने ऐसे सैद्धांतिक, विचारबोझिल, अपठनीय ज्ञान से किसी को आतंकित या प्रभावित ही किया। बहुत ही सपाट, व्यंग्यात्मक, विनोद-भावपूर्ण, सृजनशील भाषा में वे ऐसे अकादमिक आलोचकों की अच्छी-ख़ासी ख़बर भी लेते हैं।

इंद्रनाथ मदान ने पंजाब को साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र बनाया। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी को पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में लाने के पीछे उनका उद्देश्य यही था कि पंजाब में साहित्य आलोचना का विकास हो सके। द्विवेदी जी और मदान जी ने मिलकर यहाँ एक साहित्यिक-बौद्धिक वातावरण निर्मित किया जिससे पंजाब में साहित्यकारों, आलोचकों की एक नई पीढ़ी तैयार हुई। विश्वविद्यालय और संस्थान जो अकादमिक अनुत्पादक गतिविधियों के कारण जड़ता के प्रतीक बनते जा रहे थे डॉ. मदान ने उनमें प्राण फूँके तथा एक नई साहित्यिक-बौद्धिक ज़मीन तैयार कर दी। आमतौर पर विश्वविद्यालयों में बुद्धिजीवी लोग प्रोफ़ेसरशिप पाकर पढ़ना-लिखना, सोचना-विचारना छोड़ देते हैं तथा बूर्ज्वा क़िस्म की अभिरुचियों का शिकार हो जाते हैं, वहीं डॉ. मदान आजीवन अध्ययनशील, सृजनशील होने के कारण सेवानिवृत्ति के बाद भी लेखन-कार्य में सक्रिय रहे हैं। बौद्धिक वर्ग की तमाम कमज़ोरियों से वे परिचित थे कि कैसे यह वर्ग निष्क्रिय एवं उदासीन होता जा रहा है तथा उसमें सृजन एवं आलोचना की संभावनाएँ लगभग क्षीण होती जा रही हैं। विश्वविद्यालय राजनीति के गढ़ बनते जा रहे हैं। बौद्धिक, चिंतक आत्मकेंद्रित, सुविधाजीवी और परजीवीपन के शिकार होते जा रहे हैं। इस दृष्टि से यदि डॉ. मदान के सृजनात्मक संघर्ष पर विचार किया जाए तो उन्होंने विश्वविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन, शोध एवं आलोचना, रचना और विचार की संस्कृति विकसित की तथा नए-नए लेखकों की सृजनशीलता की पहचान भी की।

कुमार विकल, मोहन राकेश, उपेंद्रनाथ अश्क, कमलेश्वर, गंगाप्रसाद विमल जैसी प्रतिभाएँ यदि राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने में सफल हो सकीं तो उसके पीछे डॉ. इंद्रनाथ मदान की पारखी आधुनिक दृष्टि थी जिसके चलते आधुनिक साहित्यकारों के मूल्यांकन की भी शुरुआत हो सकी। डॉ. इंद्रनाथ मदान तमाम गुटों, राजनीतिक बाड़ों से मुक्त एक स्वतंत्र-चेता सेक्युलर चिंतक थे जिन्होंने कुमार विकल जैसे वामपंथी प्रगतिशील कवि की सृजनात्मक प्रतिभा को भी पहचाना तथा मोहन राकेश की साहित्यिक प्रतिभा को भी तटस्थता से पहचाना। कुमार विकल और मोहन राकेश का सृजन दो अलग-अलग ध्रुव हैं, लेकिन जब वे किसी कृतिकार की कृतियों पर अपने विचार रखते हैं तो किसी विचारधारा विशेष या पूर्वग्रहों से प्रभावित होकर नहीं जैसा कि मार्क्सवादी आलोचकों ने कुमार विकल को ख़ूब उठाया, लेकिन अज्ञेय या मोहन राकेश की सृजनशीलता को पतनशील घोषित किया। डॉ. मदान में ऐसे पूर्वग्रह क़तई नहीं थे। इस तरह की विचारधारात्मक दृष्टि

को वे आलोचना के लिए बेहद घातक मानते हैं। हिंदी आलोचना में इस तरह के विचारधारात्मक पूर्वग्रह बहुत ही शक्तिशाली रहे हैं। इसीलिए अज्ञेय उपेक्षित रहे, लेकिन यह मदान की निष्पक्ष सेक्युलर आलोचना दृष्टि थी कि वे यदि मुक्तिबोध का पुनर्पाठ करते हैं तो पूरी तैयारी के साथ और यदि अज्ञेय की रचनाशीलता पर विचार करते हैं तो उसकी एक-एक परत को खोलते हुए, उनकी रचनात्मक संवेदना को समझते हुए। यह काम एक सेक्युलर आलोचक ही कर सकता है। अज्ञेय की कविताओं पर उन्होंने महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं—"अज्ञेय की काव्य-भाषा एक तरफ़ कुलीन-अभिजात और दूसरी तरफ़ तद्भव में डोलती रही है, कुलीन से अकुलीन की ओर आने की कोशिश भी करती रही है। इस कुलीन-अकुलीन में अनुपात शोध का विषय बन जाता है। इनकी पहली रचनाओं में और कुछ बाद की रचनाओं में काव्यात्मक शब्दों की खोज जारी है, लेकिन एक-दूसरे स्तर पर तद्भव और ठेठ शब्दों को काव्यात्मक रूप देने की कोशिश सृजनात्मक स्तर पर है—इनकी काव्यभाषा का परिष्कार होता गया है, इसमें निखार आता गया है, बोलचाल की भाषा कुलीन और काव्यात्मक रूप देने, हरिजन को काव्य-मंदिर में दाख़िल होने का अधिकार दिलाने की कोशिश जारी है।"

इसी प्रकार की बहुत ही महत्त्वपूर्ण विचार-गर्भित टिप्पणियाँ उनकी गहन आलोचनात्मक दृष्टि की प्रतीक हैं—"इनकी (अज्ञेय की) कविता जिस तरह आत्मान्वेषण, आत्मशोधन, आत्मनिवेदन की मंज़िलों से गुज़री है, उसी तरह इनकी काव्यभाषा का संस्कार-विकास होता गया है और बोलचाल के बोल के पास आती गई है।" इतना ही नहीं, उनकी अज्ञेय की काव्य-भाषा के बारे में यह टिप्पणी कितनी महत्त्वपूर्ण है कि पाठक स्वयं अंदाज़ा लगा सकता है—"यह तत्सम और तद्भव के दो झूलों में डोलती रही है, तद्भव के झूले में झूलने के लिए स्वयं को माँजती रही है, इसे भी कुलीन बनाने की कोशिश करती रही है। इस तरह उनकी कविता 'भग्नदूत' से चलकर 'सागरमुद्रा' तक पहुँची है। इस यात्रा से इतना तो साफ़ हो जाता है कि इसमें जितना निखार आया है उतना विकास नहीं हो पाया है। रहस्य की बात पहले भी थी और अब भी है, आत्मनिवेदन पहले भी था और अब भी है, इसलिए यह कहना कठिन जान पड़ता है कि इनकी कविता विकासशील है। इसे विकासशील कहने के बजाय चक्रांतशील रूप में आँकना अधिक संगत होगा, यह कभी एक नाव में, कभी दूसरी नाव में और कभी तीसरी नाव में बार-बार सैर करने को निकलती है।" (*आलोचना और आलोचना*, पृ. 102) डॉ. मदान ने अज्ञेय की काव्य-भाषा का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह उनकी काव्य-भाषा तक ही सीमित नहीं, अपितु उनके सृजनात्मक पड़ावों से गुज़रते हुए उनकी समग्र रचना-दृष्टि, जीवन-दृष्टि का भी गंभीर आकलन है कि अज्ञेय में पहले अपनी चिंता थी, अपने अहं को स्थापित

करने की चिंता थी। इसमें कवि को निराशा का मुँह ताकना पड़ा, भीतर और बाहर में डोलने लगी। अपने बाहर के वास्तव को इलियट की तरह बंजर पाया। अहं और इदं में जो तनाव की स्थिति थी, इनकी कविता के सृजन के मूल में थी, धीरे-धीरे शांत होने लगी। इस तनाव के शिथिल होने का एक परिणाम यह निकला कि इनका कवि सिद्ध वचन बोलने लगा, वक्तव्य देने लगा—*उठ गई सभा/सब अपने-अपने काम लगे/युग पलट गया/प्रिय पाठक/ यो मेरी वीणा भी मौन हुई।'* इनकी वीणा के तार जब ढीले पड़ते हैं, तनाव जब शिथिल होने लगता है तो सृजन का स्तर उतरने लगता है और रचना वक्तव्य का रूप धारण कर लेती लगता है।" (वही, पृ. 103) इसे कहते हैं कृति को पढ़ना यानी कृति को पढ़ा कैसे जाता है? कोई क्या पढ़ता है? उसकी पढ़त पाठ पर क्या प्रभाव डालती है? कृति की राह से गुज़रना यानी कृति के समूचे भूगोल से परिचित होना। उसके एक-एक रग-रेशे को पहचानना। डॉ. मदान ने 'कृति की राह' का जो विकल्प प्रस्तुत किया वह महज़ सिद्धांत नहीं था, बल्कि कृति की राह से गुज़रा कैसे जाता है, कृति की पढ़त क्या होती है, एक आदर्श पढ़त का विकल्प भी उन्होंने प्रस्तुत किया जब *गोदान, कितनी नावों में कितनी बार*, 'अँधेरे में', 'एक अधूरी कविता जो शायद पूरी होने से बेहतर है', 'कामायनी : एक असफल कृति', 'प्रेमचंद का उपन्यास : एक चुनौती', 'आधुनिकता और हिंदी उपन्यास' जैसे सवालों का उन्होंने सामना किया। वे शायद कृति की राह से गुज़रने वाले पहले आलोचक थे, जिनकी रुचि सिद्धांत-निरूपण पर कम, कृति के पुनर्पाठ पर अधिक थी। इन कृतियों में जिस प्रकार वे उतरते हैं, उनमें नवीन अर्थों का संधान करते हुए, पूर्ववर्ती पढ़तों के अंतर्विरोधों को पहचानते हुए जिस प्रकार कृति की अंतरात्मा में प्रवेश करते हैं, मानो कृति के भीतरी और बाहरी भूगोल से पाठकों को अवगत कराते हैं। यही उनकी समीक्षा-दृष्टि का वैशिष्ट्य था कि उन्होंने सिर्फ़ फ़ैसले या फ़तवे नहीं दिए, कृति के भीतरी संसार में दाखिल हुए जैसे कोई गोताख़ोर नदी की तेज़ बहती जलधारा से टकराता है।

हिंदी के वे पहले आलोचक थे जिन्होंने 'कृति को इतना महत्त्व दिया तथा कृतियों की राह में से गुज़रकर आलोचकों के लिए चुनौती भी प्रस्तुत की कि आलोचना का काम सिर्फ़ निर्णय सुनाना, फ़तवे देना या किसी को उठाना-गिराना है? आज आलोचना के नाम पर क्या हो रहा है? शायद इसी से क्षुब्ध होकर विनोद भाव में उन्होंने अपने युग की आलोचना पर मार्मिक टिप्पणी की थी कि 'आज की आलोचना में न आलू है न चना।' यानी एक ही मसाले में सब कुछ पकाया-खपाया जा रहा है। सिर्फ़ सिद्धांतों, आलोचनात्मक प्रत्ययों, प्रतिमानों, अवधारणाओं के मकड़जाल में वह पूरी तरह से उलझ चुकी है। यही कारण है कि *गोदान* पर विचार करते हुए वे डॉ. रामविलास शर्मा की *गोदान* संबंधी अवधारणाओं, विचारों की तीखी

आलोचना करते हैं कि वे कैसे *गोदान* की मूल समस्या को ऋण की समस्या के रूप में आँककर इसे लेखक की आप-बीती से जोड़ देते हैं तो यह इसके एक पहलू को ही छूता है। यह सही है कि उधार के जाल में, जो नगर और देहात दोनों में बिछा हुआ है, होरी क्या मिस्टर खन्ना आदि भी फँसे हुए हैं। इसलिए ऋण की समस्या को मूल समस्या के रूप में आँकना उसी तरह होगा जिस तरह धन की दुश्मनी को उपन्यास की मूल समस्या के रूप में, इसके मूल स्वर को सुनना। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने मूल समस्या को खोज निकालने की जो कोशिश की है वह उपन्यास के एक पहलू को तो रोशन करती है, लेकिन पूरे उपन्यास को उजागर करने से रह जाती है।" (वही, पृ. 174) अपने समय के इतने दिग्गज आलोचकों की इतनी तीखी आलोचना करने का दुःसाहस डॉ. मदान में ही था। वे आलोचना ही नहीं करते थे, अपनी टिप्पणियों से आलोचकों को अहसास भी करा देते थे कि कृतियों का मूल्यांकन कैसे किया जाता है, कृतियों को पढ़ा कैसे जाता है।

डॉ. इंद्रनाथ मदान ने 'कृति की राह' का जो वैकल्पिक समीक्षाशास्त्र विकसित किया वह पश्चिम के पाठाश्रित समीक्षाशास्त्र से अलग इस अर्थ में था कि उन्होंने उसका अंधानुकरण नहीं किया, बल्कि आधुनिक हिंदी विवेचना के लिए 'कृति की राह' का एक आदर्श विकल्प प्रस्तुत किया, ताकि हम पश्चिमी समीक्षाशास्त्र का अंधानुकरण न करें, भारतीय साहित्यिक परिदृश्य में अपना मौलिक समीक्षाशास्त्र निर्मित करने का प्रयास करें और यह कृतियों के भीतर से ही पैदा होगा। पश्चिमी समीक्षा प्रणालियों की नक़ल करके हम न तो समीक्षा का विकास कर सकते हैं और न ही इससे साहित्यिक कृतियों को समझा जा सकता है। पश्चिमी प्रतिमानों, सिद्धांतों के आलोक में हम हिंदी की कालजयी कृतियों को नहीं समझ सकते। यही कारण है कि पश्चिम के वर्चस्वी सिद्धांतों से हम *गोदान* जैसी कालजयी कृति का वस्तुनिष्ठ दृष्टि से मूल्यांकन नहीं कर पाए हैं। इसके लिए हमें एक ऐसी वैकल्पिक समीक्षादृष्टि विकसित करने की ज़रूरत है, ताकि हम अपने साहित्य का उचित मूल्यांकन कर सकें। यदि इस संदर्भ में हम डॉ. मदान की समीक्षा-दृष्टि की पड़ताल करें तो पश्चिम के औपनिवेशिक समीक्षा-सिद्धांतों की वे आलोचना इसलिए करते हैं कि वे इस तथ्य से परिचित थे कि हमें अपनी ज़मीन के मुताबिक़ अपना एक भिन्न साहित्यशास्त्र विकसित करने की ज़रूरत है जिसे वे 'कृति की राह' का नाम दे रहे थे। क्या आज पुनः हमें एक नए साहित्यशास्त्र की ज़रूरत अनुभव नहीं हो रही है? जब समीक्षा के नाम पर विभिन्न विमर्श हमारा नव-औपनिवेशीकरण करते जा रहे हैं? क्या 'कृति की राह' का सिद्धांत अधिक ठोस और हमारी ज़मीनी सच्चाइयों से जुड़ा हुआ नहीं है? इस नए समीक्षा शास्त्र यानी 'कृति की राह' को समझने की ज़रूरत है कि वह वर्चस्वी समीक्षासिद्धांतों से किन अर्थों में भिन्न है

और कैसे? कुछेक आलोचक इसे पश्चिम की पाठाश्रित आलोचना का ही पर्याय या नक़ल मानते हैं, लेकिन यदि गहराई में जाकर देखा जाए तो मदान ने कहीं भी इसकी शास्त्रीय बारीकियों, नियमों, सिद्धांतों का उल्लेख नहीं किया, बल्कि सीधे-सीधे वे कृतियों की गहन छानबीन, पड़ताल करते दिखाई देते हैं। कृतियों की भीतरी और उसकी बाहरी दुनिया का विवेचन, विश्लेषण, पुनर्पाठ करने के बाद ही हम नया साहित्यशास्त्र भी खोज सकेंगे जो उधार लिया हुआ, आरोपित नहीं, बल्कि हमारी ठोस ऐतिहासिक, ज़मीनी सच्चाइयों से जुड़ा हुआ होगा। क्या आज के इस उत्तर-औपनिवेशिक दौर में जहाँ संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद ने साहित्यशास्त्र की ज़मीन को ही खिसकाना शुरू कर दिया है, तो हमें एक नए वैकल्पिक समीक्षाशास्त्र को निर्मित करने की ज़रूरत महसूस नहीं हो रही? क्या मदान जी का 'कृति की राह' का सिद्धांत वैकल्पिक समीक्षाशास्त्र की एक नई चुनौती के रूप में प्रकट नहीं हो रहा? इन मुद्दों पर हमें पुनर्विचार की आवश्यकता है कि विमर्शों के दौर और शोर में कृति की राह का सिद्धांत पुनः प्रासंगिक होता जा रहा है।

संदर्भ :

1. इंद्रनाथ मदान, *आलोचना और आलोचना*, पृ. 11.
2. वही, पृ. 16.

इंद्रनाथ मदान की प्रमुख कृतियाँ

(क) मौलिक पुस्तकें

1. *मॉडर्न हिंदी लिटरेचर*, मिनर्वा बुक शॉप, लाहौर, 1938.
2. *शरच्चंद्र : चिंतन व कला*, हिंदी भवन जालंधर, 1955.
3. *जयशंकर प्रसाद : चिंतन व कला*, हिंदी भवन जालंधर, 1956.
4. *काव्यधारा*, आत्माराम एंड संज़, दिल्ली, 1959.
5. *तुलसीदास चिंतन और कला*, राजपाल एंड संज़, 1959.
6. *आलोचना तथा काव्य*, राजपाल एंड संज़, दिल्ली 1960.
7. *उपन्यासकार अश्क*, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1960.
8. *आधुनिक हिंदी कविता का मूल्यांकन*, हिंदी भवन, जालंधर, 1962.
9. *आज का हिंदी उपन्यास* ('गोदान' से 'वे दिन' तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966.
10. *निबंध और निबंध*, (व्यक्तिगत और सामाजिक) बंसल एंड कंपनी, दिल्ली, 1966.
11. *हिंदी कथा साहित्य*, पंजाब विश्वविद्यालय, पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़, 1968
12. *आलोचना और आलोचना*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971.
13. *आधुनिकता और हिंदी साहित्य*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973.
14. *कुछ उथले कुछ गहरे*, राजपाल एंड संज़, दिल्ली, 1974.

15. *हिंदी कहानी : पहचान और परख*, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1975.
16. *हिंदी उपन्यास : एक नई दृष्टि*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975.
17. *समकालीन साहित्य : एक नई दृष्टि*, लिपि प्रकाशन दिल्ली, 1977
18. *हिंदी कहानी एक नई दृष्टि*, संभावना प्रकाशन हापुड़, 1978.
19. *भानुमती का पिटारा*, श्री हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली, 1983.
20. *प्रेमचंद : एक विवेचन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989.

(ख) संपादित पुस्तकें

1. *प्रेमचंद : प्रतिभा*, संपादन, सरस्वती प्रेस इलाहाबाद, 1967.
2. *महादेवी चिंतन और कला*, राधाकृष्ण प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1967.
3. *नवभारती : आधुनिक कविताओं का संकलन*, संपा, पंजाब विश्वविद्यालय, पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़ 1967.
4. *कविता और कविता* (भारतेंदु से आजतक) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967.
5. *हिंदी कहानी अपनी ज़ुबानी*, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968.
6. *कहानी नई पुरानी*, पंजाब विश्वविद्यालय, पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण, 1971.
7. *हिंदी उपन्यास : पहचान और परख*, लिपि प्रकाशन, दिल्ली 1973.
8. *हिंदी नाटक और रंगमंच, पहचान और परख*, लिपि प्रकाशन, 1975.

इंद्रनाथ मदान पर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के अंक

1. *जनसाहित्य*, अभिनंदन अंक, मई 1964, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला.
2. *परिशोध*, इंद्रनाथ मदान स्मृति-अंक, अंक 41. संपादक जयप्रकाश, हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़.

□□□

इंद्रनाथ मदान (जन्म : 1 मार्च, 1914—मृत्यु : 14 अगस्त, 1984) हिंदी के शीर्षस्थ आलोचकों में से एक हैं। उन्होंने हिंदी-अंग्रेज़ी में लगभग तीन दर्जन पुस्तकें लिखीं। उन्होंने अपने अध्यापन कार्य की शुरुआत अंग्रेज़ी से की थी और उनकी तीन पुस्तकें— *मॉडर्न हिंदी लिटरेचर, प्रेमचंद : एन इंटरप्रेटेशन, शरतचंद्र चटर्जी : हिज़ माइंड एंड आर्ट* अंग्रेज़ी में ही प्रकाशित हुईं। देश के विभाजन के बाद रोज़ी-रोज़गार के लिए भारत के विभिन्न शहरों—दिल्ली, शिमला, जालंधर और अंततः चंडीगढ़— में निवास और हिंदी का अध्यापन। हिंदी-अंग्रेज़ी पर समान अधिकार के साथ-साथ उर्दू का भी अच्छा ज्ञान। हिंदी में लिखित पुस्तकों में प्रमुख हैं— *भानुमती का पिटारा, कुछ उथले कुछ गहरे, सुगम तथा शास्त्रीय संगीत, हिंदी उपन्यास : एक नई दृष्टि, आलोचना और आलोचना, हिंदी कहानी : पहचान और परख* इत्यादि। उनके निबंधों और आलोचना-कृतियों से साहित्य को समझने की एक नई दृष्टि मिलती है। इन कृतियों में एक वैकल्पिक साहित्यशास्त्र की तलाश है।

इंद्रनाथ मदान की भाषा बहुत ही सशक्त और जीवंत है। यह अपनी सादगी में भी गहरा व्यंग्य और संवेदना लिए हुए है। उनके ललित निबंध इसके उदाहरण हैं। इंद्रनाथ मदान में गंभीर से गंभीर विषय को भी बोधगम्य तरीक़े से प्रस्तुत करने की कला है। अध्यापक, निबंधकार, आलोचक, संपादक और व्यक्ति—इंद्रनाथ मदान सर्वत्र ज़िंदादिल इंसान हैं। आजीवन अविवाहित रहे मदान जी का परिवार बहुत विस्तृत था जिसमें समाज के विभिन्न तबकों से लेकर विभिन्न जीव-जंतु तक शामिल रहे। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "... किसी की मुरौव्वत नहीं, किसी से द्वेष नहीं। जिस पर ढरक गए, उसके लिए औढरदानी हैं। दोस्त हो तो मदान-जैसा और शायद दुश्मन भी हो तो मदान-जैसा।"

राकेश कुमार (जन्म : 10 जनवरी 1962, पटियाला, पंजाब) दो दशकों से अध्यापन एवं लेखन कार्य में सक्रिय। *समकालीन कविता की रचना-प्रक्रिया, समकालीन कविता : इतिहास-बोध, जॉर्ज लूकाच का यथार्थ-दर्शन, पाठकोन्मुखी आलोचना तथा प्रेमचंद* आदि पुस्तकें प्रकाशित। मिशैल फ़ूको तथा अंटानियो ग्राम्शी पर आलोचनात्मक चिंतन। भाषा विभाग, पंजाब द्वारा इंद्रनाथ मदान पुरस्कार से सम्मानित। राजकीय कन्या महाविद्यालय, लुधियाना के हिंदी विभाग में एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्ष।

ISBN 978-81-260-4313-2





साहित्य अकादेमी

मूल्य : ₹ 50